बा के विचार

सत्साहित्य-प्रकाशन

विनोबा के विचार

[पहला भाग]

•

परिचय

गांधीजी

•

प्रस्तावना

महादेव देसाई

•

१९६३

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रस्तावना

प्रसिद्धि की जिनको कभी परवा नहीं थी, उनको पूज्य गांधीजी के सत्याग्रह ने असाधारण प्रसिद्धि दे दी। यह प्रसिद्धि मिल गई तो उससे भी जलकमलवत् निर्लिप्त रहने की शक्ति जितनी श्री विनोबा की है, उतनी और किसीकी नहीं है। जिन विशेषताओं के लिए पूज्य गांधीजी ने उन्हें प्रथम सत्याग्रही की हैसियत से पसंद किया, उन विशेषताओं को सब लोग समझ नहीं सके हैं, ऐसी मुझे आशंका है। कई बड़े-बड़े सरकारी अफसरों ने मुझसे कहा कि जवाहरलालजी, भूलाभाई तो बड़े नेता हैं, उनको कड़ी सजा देनी पड़ती है, क्योंकि उनका प्रभाव हजारों लोगों पर है। विनोबा तो स्मॉल फ्राई (Small fry) यानी अल्पकाय जीव हैं, उनको गांधीजी ने बढ़ाया है, उनके असर का सरकार को डर नहीं है। डर हो या न हो, मि० ऐमरी ने भी अब श्री विनोबा का नाम अपने निवेदन में दिया और उनका एक सच्चे दयाधर्मी के नाम से उल्लेख किया है।

विनोबा का प्रभाव आज नहीं, वर्षों के बाद लोग जानेंगे। उनकी थोड़ी विशेषताओं का निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हूं। वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, शायद वैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भी होंगे। वह प्रखर विद्वान् हैं, वैसे प्रखर विद्वान् और भी हैं। उन्होंने सादगी को वरण किया है, उनसे भी अधिक सादगी से रहनेवाले गांधीजी के अनुयायियों में कई हैं। वह रचनात्मक कार्य के महान् पुरस्कर्ता और दिन-रात उसीमें लगे रहनेवाले व्यक्ति हैं, ऐसे भी कुछ गांधी-मार्गानुगामी हैं। उनकी-जैसी तेजस्वी बुद्धि-शक्तिवाले भी कई हैं। परंतु उनमें कुछ और भी चीजें हैं जो और किसीमें नहीं हैं। एक निश्चय किया, एक तत्त्व ग्रहण किया, तो उसका उसी क्षण से अमल करना—उनका प्रथम पंक्ति का गुण है। उनका दूसरा गुण निरंतर विकासशीलता का है। शायद ही हममें से कोई ऐसा हो, जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूं। बापू को छोड़कर यदि और किसीमें यह गुण

मैंने देखा है तो विनोबा में। इसलिए छियालीस साल की उम्र में उन्होंने अरबी-जैसी कठिन भाषा का अभ्यास किया, कुरानशरीफ का अनुष्ठान किया और उसके हाफिज बन गए हैं। बापू के कई बड़े अनुयायी ऐसे हैं, जिनका प्रभाव जनता पर बहुत पड़ता है; पर बापू के शायद ही किसी अनुयायी ने सत्य-अहिंसा के पुजारी और कार्यरत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों, जितने कि विनोबा ने पैदा किये हैं। **योगः कर्मसु कौशलम्** के अर्थ में विनोबा सच्चे योगी हैं। उनके विचार, वाणी और आचार में जैसा एक-राग है वैसा एकराग बहुत कम लोगों में होगा, इसलिए उनका जीवन एक मधुर संगीतमय है। **संचार करो सकल कर्मे शांत तोमार छंद**—कविवर ठाकुर की यह प्रार्थना शायद विनोबा पूर्वजन्म से करते आये हैं। ऐसे अनुयायी से गांधीजी और उनके सत्याग्रह की भी शोभा है।

उनके कुछ लेखों का यह संग्रह बड़ा उपयोगी होगा। उनकी मित-भाषिता, उनके विचार और वाणी का संयम और उनकी तत्त्व-निष्ठा का इस संग्रह में पद-पद पर परिचय मिलेगा।

सेवाग्राम **—महादेव देसाई**

२५-११-४०

प्रथम सत्याग्रही विनोबा

श्री विनोबा भावे कौन हैं ? मैंने उन्हें ही इस सत्याग्रह के लिए क्यों चुना ? और किसीको क्यों नहीं ? मेरे हिंदुस्तान लौटने पर सन् १९१६ मे उन्होंने कालिज छोड़ा था। वह संस्कृत के पंडित हैं। उन्होंने आश्रम में शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सबसे पहले सदस्यों में से वह एक हैं। अपने संस्कृत के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए वह एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गए। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जबकि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रम में फिर आ पहुंचे। मैं तो भूल भी गया था कि उन्हें उस दिन आश्रम में वापस पहुंचना था। वह आश्रम में सब प्रकार की सेवा-प्रवृत्तियों, रसोई से लगाकर पाखाना-सफाई तक, में हिस्सा ले चुके हैं। उनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक है। वह स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं, पर अपने समय का ज्यादा हिस्सा वह कातने में ही लगाते हैं, और उसमें ऐसे निष्णात हो गए हैं कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना में रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को सारे कार्य-क्रम का केंद्र बनाने से ही गांवों की गरीबी दूर हो सकती है। स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने में बहुत योग दिया है। श्री विनोबा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। वह बिल्कुल मौलिक चीज है। उन्होंने हँसी उड़ानेवालों को भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है। तकली कातने में तो उन्होंने क्रांति ही ला दी है और उसके अंदर छिपी हुई तमाम शक्तियों को खोज निकाला है। हिंदुस्तान में हाथ-कताई में इतनी संपूर्णता किसीने प्राप्त नहीं की, जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। सांप्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है, जितना कि मेरा। इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरानशरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव संपर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने उसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोबा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य में अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठरोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्साघर खुलवा दिये। उसके परिश्रम से सैकड़ों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हाल ही में उसने कुष्ठ-रोगियों के इलाज के संबंध में एक पुस्तिका मराठी में लिखी है।

विनोबा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के एक गांव में खींच ले गया। अब तो वह वर्धा से पांच मील दूर पौनार नामक गांव में जा बसे हैं और वहां से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यों के द्वारा गांववालों के साथ संपर्क स्थापित कर लिया है। वह मानते हैं कि हिंदुस्तान के लिए 'राजनैतिक स्वतंत्रता' आवश्यक है। वह इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् हैं। उनका विश्वास है कि गांववालों को रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आजादी नहीं मिल सकती और रचनात्मक कार्यकम का केंद्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है, उनके जीवन का तो वह एक अंग ही बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयों में सक्रिय भाग लिया था। वह राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं। कई साथियों की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा-भंग के अनुसंधान में शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैतिक भाषणों का

अखंड प्रवाह चल रहा है, वहां जाकर और भाषण दिये जायं। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे में हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्य में सक्रिय भाग लिये बगैर, अहिंसक प्रतिकार संभव नहीं।

श्री विनोबा युद्धमात्र के विरोधी हैं, परंतु वह अपनी अंतरात्मा की तरह उन दूसरों की अंतरात्मा का भी उतना ही आदर करते हैं, जो युद्ध-मात्र के विरोधी तो नहीं हैं, परंतु जिनकी अंतरात्मा इन वर्तमान युद्धों में शरीक होने की अनुमति नहीं देती। अगरचे श्री विनोबा दोनों दलों के प्रतिनिधि के तौर पर हैं, यह हो सकता है कि सिर्फ हाल के इस युद्ध में विरोध करनेवाले दल का खास एक और प्रतिनिधि चुनने की मुझे आवश्यकता लगे।

'हरिजन-सेवक'
२५-११-४०

—मो० क० गांधी

विषय-सूची

प्रस्तावना—महादेव देसाई ३
प्रथम सत्याग्रही विनोबा : गांधीजी ५
१. बूढ़ा तर्क ६
२. त्याग और दान ११
३. कृष्ण-भक्ति का रोग १४
४. कवि के गुण १८
५. साक्षर या सार्थक २२
६. दो शर्तें २५
७. फायदा क्या है ? २८
८. गीता-जयंती ३१
९. पुराना रोग ३३
१०. श्रवण और कीर्तन ३५
११. रोज की प्रार्थना ४०
१२. तुलसीकृत रामायण ४२
१३. कौटुम्बिक पाठशाला ४६
१४. जीवन और शिक्षण ४९
१५. केवल शिक्षण ५६
१६. भिक्षा ६०
१७. गांवों का काम ६४
१८. अस्पृश्यता-निवारण का यज्ञ ६७
१९. आजादी की लड़ाई की विधायक तैयारी ६९
२०. सर्व-धर्म-समभाव ७२
२१. स्वाध्याय की आवश्यकता ७३
२२. दरिद्रों से तन्मयता ७६
२३. तरणोपाय ७९
२४. व्यवहार में जीवन-वेतन ८१
२५. श्रमजीविका ९०
२६. ब्रह्मचर्य की कल्पना १०२
२७. स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का अर्थ १०६
२८. खादी और गादी की लड़ाई १२१
२९. निर्दोष दान और श्रेष्ठ कला की प्रतीक : खादी १२७
३०. श्रमदेव की उपासना १३७
३१. राष्ट्रीय अर्थशास्त्र १४३
३२. 'वृक्षशाखा-न्याय' १४८
३३. राजनीति या स्वराज्य-नीति १५२
३४. सेवा व्यक्ति की; भक्ति समाज की १६०
३५. ग्रामसेवा और ग्राम-धर्म १६३
३६. साहित्य—उल्टी दिशा में १६७
३७. लोकमान्य के चरणों में १७०
३८. निर्भयता के प्रकार १८३
३९. आत्मशक्ति का अनुभव १८४
४०. सेवा का आचार-धर्म १९१
४१. चरखे का सहचारी भाव २०४
४२. सारे धर्म भगवान् के चरण हैं २०७

विनोबा के विचार

पहला भाग

: १ :

बूढ़ा तर्क

ज्यादा उम्रवाले को अपने यहां बूढा कहते हैं । इस देश में आजकल ऐसे बूढे बहुत कम मिलते हैं। हम लोगों की जिंदगी का औसत २४ बरस का पड़ता है । कहते हैं, विलायत वगैरह देशों में इससे दूना है । इससे वहां बूढ़े बहुत मिलते हैं ।

अपने यहां ऐसे बूढे चाहे कम हों, पर एक और तरह के बूढ़े तो बहुत हैं । वह किस तरह के है ? किसी विद्वान् ने कहा है कि नई चीज सीखने की आशा जिसने छोड़ दी, वह बूढ़ा है । ऐसे बूढे अपने यहां, जहां देखिये, मिल जायंगे । बचपन में जो पल्ले पड़ गया, पड़ गया । इसके बाद यदि ज़रा बड़े होकर किसी धंधे में लग गए और तब कहा गया कि एकाध चीज सीख लो, तो वैसा कुछ होने का नहीं । इस जड़ता ने पढ़-अनपढ़ दोनों में मुद्दतों की गुलामी के कारण घर-सा कर लिया है । पढ़े हुओं में यह कुछ अधिक ही है, कम नहीं ।

एक बार एक राष्ट्रीय पाठशाला के शिक्षकों को मैंने सहज सुझाया, "आप थोड़ी-सी हिंदी सीख लें । हिंदी को हमने राष्ट्रभाषा माना है । राष्ट्रीय पाठशाला में तो हिंदी की शिक्षा को स्थान होना चाहिए । और हिंदी फिर कोई कठिन भाषा नहीं है, सहज है और इसी कारण वह राष्ट्रभाषा बन सकी है। गर्मी की किसी छुट्टी में हिंदीभाषा सहज ही, मजे से, सीखी जा सकेगी । आप

सीख लें तो फिर हम भी बच्चों को थोड़ी हिंदी सिखा सकेंगे।" इसपर उनकी ओर से सीधा जवाब मिला, "आप जो कहते हैं, वह ठीक है। हिंदी कोई वैसी कठिन भाषा नहीं है, पर अब हमसे कोई नई चीज सीखते बनेगा, ऐसा नहीं लगता। मुझे जो कुछ आता है, उससे आप जी चाहे जितना काम ले लीजिये। चाहे तो चार के बदले पांच घंटे पढ़ा देंगे, पर नया सीखने के लिए न कहिये। सीखते-सीखते ऊब गया !" बेचारा जिंदगी से भी ऊबा हुआ दिखा। इसका नाम है 'बूढ़ा' !

यह तो हुई सादी हिंदी सीखने की बात। अगर कोई जरा बढ़कर कहे कि "हिंदू-मुस्लिम-एकता दृढ़ करनी हो तो दोनों को ही पास आकर एक-दूसरे को अच्छी तरह जान लेना चाहिए। इससे बहुत-सी गलतफहमी अपने-आप दूर हो जायगी। इसके लिए देवनागरी लिपि के साथ-ही-साथ राष्ट्रीय पाठशालाओं में उर्दू लिपि सिखाई जाय। और चूंकि यह करना है, इसलिए शिक्षक पहले वह लिपि सीख लें," फिर तो वह पागलों में ही शुमार किया जायगा। "अजी साहब, मुसलमानों की सारी बातें उल्टी होती हैं। हम चोटी रखते हैं, वे कटवाते हैं। हम दाढ़ी साफ करवाते हैं, वे दाढ़ी रखते है। कहते हैं, यही बात उनकी लिपि की है। हम बायीं ओर से दाहिनी तरफ लिखते हैं तो वे दाहिनी तरफ से बाईं ओर ! ऐसी लिपि हमसे कैसे सीखी जा सकेगी !" यह उनका जवाब है। यह कल्पना से नहीं लिखता, ऊपर का जवाब एक सज्जन से सचमुच मिला है। मुसलमानों के बारे में उनका कथन मजाक में वैसा हो गया, अन्यथा ये उनके मन के भाव नहीं थे। मन की बात इतनी ही थी कि 'नया नहीं सीखना।'

और अगर सूत कातने को कह दिया, फिर तो पूछिये ही नहीं। "पहले तो वक्त ही बहुत कम मिलता है, और वक्त अगर ज्यों-त्यों करके निकाला भी, तो आजतक ऐसा काम कभी किया नही तो अब कैसे होगा ?" यहां से शुरुआत होगी। 'जो आजतक नहीं हुआ, वह आगे भी नहीं होने का'—यह बूढ़ा तर्क है। मालूम नहीं कि इन बूढ़ों को यह क्यों नहीं समझ पड़ता कि जो आजतक नहीं हुईं, ऐसी बहुत-सी बातें आगे होनेवाली हैं। आजतक मेरे

लड़के का ब्याह नहीं हुआ, वह अभी होने को है, यह मेरी समझ में आता है; लेकिन अबतक मेरे हाथ से सूत नहीं कता, वह आगे कतने को है, यह मेरी समझ में क्यों नहीं आता ? इसका जवाब साफ है। आजतक मैंने स्वराज्य नहीं पाया है, वह आगे पाना है, यह हमारे ध्यान में न होने की वजह से। और इसीके साथ आजतक मैं मरा नहीं हूं तो भी आगे मरना है; बल्कि आजतक मैं मरा नहीं, इसीलिए आगे मरना है, इस बात का भी भान नहीं रहा इसलिए।

मेरे मन, आजतक मैं मरा नहीं, इससे आगे नहीं मरना है, ऐसे बूढ़े तर्क का आसरा मत लो, नहीं तो फजीहत होगी !

: २ :

त्याग और दान

एक आदमी ने भलेपन से पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैन से चलाता है। बाल-बच्चों का उसे मोह है, देह की ममता है। स्वभावतः ही पैसे पर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानी से बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमा के अंदर है और उसमें 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाठ से और उतने ही भक्तिभाव से वह लक्ष्मीजी की पूजा करता है। उसे द्रव्य का लोभ है, फिर भी नाम का कहिये या परोपकार का कहिये, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्म के लिए, इसीमें देश को भी ले लीजिये, खर्च किया हुआ धन ब्याज-समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काम में वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आसपास के गरीबों को इसका इस तरह बड़ा सहारा लगता है जिस तरह छोटे बच्चों को अपनी मां का।

दूसरे एक आदमी ने इसी तरह सचाई से पैसा कमाया था, लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमें से थोड़ी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले।

कुआं जितना गहरा गया, इन चीजों का ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, 'मेरी तिजोरीमें पैसे का ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपात से किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा !' विचार का धक्का बिजली-जैसा होता है; इतने विचार से ही वह हड़बड़ाकर सचेत हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएं से उसे जो कसौटी मिली, उसपर उसने अपनी सचाई को घिसकर देखा। वह खरी नहीं उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचार ने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा ! अंत में पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियों में उसे कोई फर्क नहीं दिखाई दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ, एक दिन सवेरे वह उठा और अपनी सारी संपत्ति गधे पर लादकर गंगा के किनारे ले गया। 'मां, मेरा पाप धो डाल !' इतना कहकर उसने वह कमाई गंगामाता के आंचल में उंडेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं, "दान ही क्यों न कर दिया ?" वह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्र को दान देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगा का "पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया।" इससे भी संक्षेप में वह इतना ही कहता है, "कूड़े-कचरे का भी कहीं दान किया जाता है !" उसका अंतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके संपत्ति-त्याग से उसके 'सगों' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारों ने भी दान की महिमा कलियुग के लिए कही है। 'कलियुग' माने क्या ? कलियुग माने दिल की कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्य के लोभ को पूरी तरह नहीं छोड़ सकता, इसलिए उसके मन की उड़ान अधिक-से-अधिक दान तक ही हो सकती है। त्याग तक तो उसकी पहुंच नहीं हो सकती। लोभी मन को तो त्याग का नाम सुनते ही जाने कैसा

लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारों ने दान के ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिल्कुल जड़ पर ही आघात करनेवाला है, दान ऊपर-ही-ऊपर से कोंपलें खोंटने-जैसा है। त्याग पीने की दवा है, दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ़ है, दान में नाम का लिहाज है। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है, और दान से पाप का व्याज। त्याग का स्वभाव दयालु है, दान का ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, दान का उसकी तलहटी में।

पुराने जमाने में आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे, कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमी को जल्दी का एक काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देर के लिए घोड़े से उसकी पीठ किराये पर मांगी। घोड़े ने भी पड़ोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा, "लेकिन तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता; तू लगाम लगाने देगा, तभी मैं बैठ सकूंगा। लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़े ने भी थोड़े समय में काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमी से लोभ छूटता न था। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती, इसलिए इतनी बात तू माफ कर! हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा), इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदले में मैं तेरी ख़िदमत करूंगा, तेरे लिए घुड़साल बनवाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा; पर छोड़ने की बात मुझसे न कहना।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था! जोर से हिनहिनाकर उसने अपनी फरियाद भगवान् के दरबार में पेश की। घोड़ा त्याग चाहता था, आदमी दान की बातें कर रहा था। भले आदमी कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे!

: ३ :

कृष्ण-भक्ति का रोग

'दुनिया पैदा करें', ब्रह्माजी की यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि, कौन जाने कैसे, उनके मन में आया, 'अपने काम में भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे, तो बड़ा मजा रहेगा।' इसलिए आरंभ में उन्होंने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढ़ा, और उसे यह अख्तियार दिया कि आगे से मैं जो कुछ गढ़ूंगा, उसकी जांच का काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारी के बाद ब्रह्माजी ने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकार की जांच के सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। 'हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है। गदहे में चपलता नहीं है, बंदर अत्यंत चपल है।' यों टीकाकार ने अपनी टीका के तीर छोड़ने शुरू किये। ब्रह्माजी की अकल गुम हो गई। फिर भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखने की ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकी से निरखने लगा। अंत में एक चूक निकल ही आई—'इसकी छातीम एक खिड़की होनी चाहिए थी जिससे इसके विचार सब समझ पाते।' ब्रह्माजी बोले—'तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई; अब मैं तुझे शंकरजी के हवाले करता हूं।'

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारे में शंका करने की सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानी के वर्णन के अनुसार टीकाकार शंकरजी के हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजी को उसपर दया आगई हो, या शंकरजी ने उसपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामी के जमाने में कर्तृत्व बाकी न रह जाने पर वक्तृत्व को मौका मिलता है। काम की बात खत्म हुई कि बात का ही काम रहता है। और बोलना ही है

तो नित्य नये विषय कहां से खोजे जायं ! इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया—'निंदा-स्तुति जन की, वार्ता वधू-धन की।' पर निंदा-स्तुति में भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा, और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजी ने टीकाकार को भला-बुरा देखने को तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजी का बुरा देखा। मनुष्य के मन की रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरे के दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृत में 'विश्व-गुणादर्श-चपू' नाम का एक काव्य है। वेंकटाचारी नाम के एक दाक्षिणात्य पंडित ने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नाम के दो गंधर्व विमान में बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरों के सामने आता है, उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणों का दर्पण' इस काव्य का नाम रखकर कवि ने अपना निर्णायक मत विभावसु के पक्ष में दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णन का ढंग कुछ ऐसा है कि अंत में पाठक के मन पर कृशानु के मत की छाप पड़ती है। गुण लेने के इरादे से लिखी हुई चीज की तो यह दशा है, फिर दोष देखने की वृत्ति होती तो क्या हाल होता !

चंद्र की भांति प्रत्येक वस्तु के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मन के यथेच्छ विचरने में कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिन में दिवाली करता है, फिर भी रात को अंधेरा ही देता है,' इतना ही कह देने से उस सारी दिवाली की होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण लेने का नियम बना लिया जाय, तो दो दिनों में एक रात न दिख कर एक दिन के अगल-बगल दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्नि की ज्योति की ओर ध्यान न जाकर धुएं से अग्नि का अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्र का निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब मजे की बातें गीता में बतलाई हैं। अग्नि का धुआं, सूर्य की रात अथवा चंद्र का कृष्ण पक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतंत्र वर्ग रक्खा है। 'दिन में आंखें बंद कीं तो अंधेरा

श्रौर रात को खोलीं तो अंधेरा'—स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति के अनुसार इन लोगों का कार्यक्रम है। पर भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लिए मोक्ष बतलाया है, तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होने पर भी यह सम्प्रदाय छुतहे रोग की भांति बढ़ रहा है। पुतली के काली होने या काले रंग में आकर्षण अधिक होने की वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आंख में भरता है, वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं भरता। ऐसी स्थिति में यह सांप्रदायिक रोग किस औषधि से अच्छा होगा, यह ज्ञान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्त में भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को बाहरी कृष्ण न दिखायें, भीतर के कृष्ण के दर्शन करायें। लोगों की कालिख देखने की आदी निगाह को मन के भीतर की कालिख दिखायें। विश्व के गुण-दोष को जांचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने-आप को निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होने पर उसके परीक्षण का डंक अपने-आप टूट जाता है। बाइबिल के 'नये करार' में इस बारे में एक सुन्दर प्रसंग का उल्लेख है—एक बहन से कोई बुरा काम शायद होगया। उसको जाच करके न्याय देने के लिए पंच बैठे थे। वहां श्रवण-भक्त भी काफी तादाद में जुट गए होंगे, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं। किंतु विशेषता यह थी कि उस बहन का सद्भाग्य भगवान् ईसा को वहां खींच लाया था। पंचों ने फैसला सुनाया, 'इस बहन ने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरों से मारकर इसे शरीर से मुक्त करें।' फैसला सुनते ही लोगों के हाथ फड़कने लगे और आसपास के ढेले थर-थर कांपने लगे। भगवान् ईसा को उस बहन पर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ हो, वह पहला ढेला मारे!' जमात ज़रा देर के लिए ठिठक गई, फिर धीरे-धीरे वहां से एक-एक आदमी खिसकने लगा। अंत में वह अभागी बहन और भगवान् ईसा ये दो ही रह गए। भगवान् ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेम से विदा किया। यह कहानी हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा, दूसरे के दोष दिखे ही नहीं, इसलिए है। दृष्टि-दोष से दोष दिखने पर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा, दो-चार दिन नींद भी खराब जायगी, पर आखिर में थककर मन शांत हो जायगा। तानाजी के खेत रहने पर मावले पीठ दिखा देंगे, ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सी की मदद से वे गढ़ पर चढ़े थे, और जिसकी मदद से अब वे उतरने का प्रयत्न करनेवाले थे, वह रस्सी ही सूर्याजी ने काट डाली। "वह रस्सी तो मैंने कभी की काट दी है"—सूर्याजी के इस एक वाक्य ने लोगों में निराशा की वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर हो गया। रस्सी काट डालने का तत्त्व-ज्ञान बहुत ही महत्त्व का है। इसपर अलग से लिखने की जरूरत है। इस वक्त तो इतने ही से अभिप्राय है कि मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरे के दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह!' मन पर यह नौबत आ जाती है और यह आई नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है, उसके लिए बहुत समय तक तड़फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है, कर्मयोग में मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बड़े सबको काफी हो सकता है; वैसे ही कर्मयोग एक ऐसा योग है, जिसकी सर्व-साधारण के लिए, बेखटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आज का कर्मयोग है।

सूत कातने का कर्मयोग स्वीकार किया कि लोक-निंदा को मथते रहने की फुर्सत ही नहीं रहती। जैसे किसान अन्न-अन्न के दाने की असली कीमत समझता है, वैसे ही सूत कातनेवाले को एक-एक क्षण के महत्त्व का पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थ की यह सूचना, अथवा "क्षणार्ध भी व्यर्थ न खो" नारद का यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए अक्षरशः समझ में आता है। कर्मयोग का सामर्थ्य अद्भुत है। उसपर जितना

जोर दिया जाय, कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगों पर लागू है, पर जिस रोग की उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर इसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गई। तीनों दवाएं रोगियों की जीभ को कड़वी तो लगेंगी, पर परिणाम में वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षण से मन का, मौन से वाणी का और कर्मयोग से शरीर का दोष झड़े बिना आत्मा को आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इस के सिवा यह दवा शहद के साथ लेने को है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियों में भगवद्भाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेने से सब मीठा हो जायगा।

: ४ :

कवि के गुण

एक सज्जन का सवाल है कि आजकल हम में पहले की तरह कवि क्यों नहीं हैं? इसके उत्तर में नीचे के चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नहीं हैं? कवि के लिए आवश्यक गुण नहीं हैं, इसलिए। कवि होने के लिए किन गुणों की आवश्यकता होती है, अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मन का मालिक। जिसने मन नहीं जीता, वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता, राग-द्वेष शांत नहीं होते, तबतक मनुष्य इंद्रियों का गुलाम ही बना रहता है। इद्रियों के गुलाम को ईश्वर की सृष्टि कैसे दिखाई दे! वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुख में ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुख से परे है। इससे परे की सृष्टि के दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव है। सूरदास की आंखें उनकी इच्छा के विरुद्ध विषयों की ओर

दौड़ा करती थीं। उन आंखों को फोड़कर जब वह अंधे हुए, तब उन्हें काव्य के दर्शन हुए। बालक ध्रुव ने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इंद्रियों को वश में कर लिया, तब भगवान् ने अपने काव्यमय शंख से उसके कपोल को छू दिया और इस स्पर्श के साथ ही उस अज्ञान बालक के मुख से साक्षात् वेदवाणी का रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकाराम ने जब शरीर, इंद्रिय और मन को पूर्ण रूप से भंग किया, तभी तो महाराष्ट्र को अभंग वाणी का लाभ हुआ। मनोनिग्रह के प्रयत्न में जब शरीर पर चींटियों के बमीठे चढ़ गए, तब उसमें से आदिकाव्य का उदय हुआ। आज तो हम इंद्रियों की सेवा के हाथ बिक गए हैं, इसलिए हममें आज कवि नहीं हैं।

समुद्र जैसे सब नदियों को अपने उदर में स्थान देता है, उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड को अपने प्रेम से ढक ले, इतनी व्यापक बुद्धि कवि में होनी चाहिए। पत्थर में ईश्वर के दर्शन करना काव्य का काम है। इसके लिए व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसे की आवाज में भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेंढकों को टर्राता देख वसिष्ठ को जान पड़ा कि परमात्मा की कृपा की वर्षा से कृत-कृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेंढकों के रूप में अपने आनंदोद्गार प्रकट कर रहे है, और इसपर उन्होंने भक्ति-भाव से उन मेंढकों की स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेद में मडूक-स्तुति' के नाम से ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्ति का रंग चढ़ाकर कवि सृष्टि की ओर देखता है, इसी से उसका हृदय सृष्टि-दर्शन से नाचता है। माता के हृदय में अपनी संतान के प्रति प्रेम होता है, इसलिए उसे देखकर उसके स्तनों का दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टि के प्रति कवि का मन प्रेम से भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणी से काव्य की धारा बह निकलती है। वह उसे रोक नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टि के प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-गृहादि से परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर **वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरे सोयरीं'**—वृक्ष, लता और वनचर हमारे

कुटुम्बी हैं'—यह काव्य हमें कहां से सूझे !

कवि को चाहिए कि वह सारी सृष्टि पर आत्मिक प्रेम की चादर डाल दे। वैसे ही उसको सृष्टि के वैभव से अपनी आत्मा सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरों में उसे आत्म-दर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मा में वृक्ष, वल्ली और वनचरों का अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्म-रूप है, इतना ही नहीं बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कवि को दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमा के चंद्र को देखकर उसके हृदय-समुद्र में ज्वार आना ही चाहिए, किंतु पूर्णिमा के अभाव में उसके हृदय में भाटा न होना चाहिए। अमावस्या के गाढ़ अंधकार में आकाश बादलों से भरा होने पर भी चंद्र-दर्शन का आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत् में मर्यादित है वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय-सुख से झूमती है, कवि आत्मानंद में डोलता है। लोगों को भोजन का आनंद मिलता है, कवि को आनंद का भोजन मिलता है। कवि संयम का सयम है और इसलिए स्वतंत्रता की स्वतंत्रता है। टेनिसन ने बहते झरने में आत्मा का अमरत्व देखा; कारण अमरत्व का बहता झरना उसे अपनी आत्मा में दिखाई दिया था। कवि विश्वसम्राट् होता है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कवि को जाग्रत अवस्था में महाविष्णु की योगनिद्रा के स्वप्नो का ज्ञान होता है, और स्वप्न में जाग्रत् नारायण की जगत्-रचना देखने को मिलती है। कवि-हृदय में सृष्टि का सारा वैभव सचित रहता है। हमारे हृदय में भूख का ज्ञान भरा हुआ है और मुख में भीख की भाषा। जहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतंत्र हूं अथवा मनुष्य हूं, वहां आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभा की आशा नहीं की जा सकती।

कवि में 'लोक-हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए, यह सभी मानते हैं, पर लोगों को इस बात का भान नहीं होता कि सत्यनिष्ठा इस सामर्थ्य का मूलाधार है। सत्यपूत वाणी से अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। "जो सत्य होगा वही बोलूंगा," इस तरह के नैष्ठिक सत्याचरण के फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि

"जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूति ने ऋषियों के काव्य-कौशल का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बाद में उसमे अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियों की सत्यनिष्ठा। **"समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।"** जो असत्य बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है, अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद् में ऋषि ने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठा में से काव्य का जन्म होता है। वाल्मीकि ने पहले रामायण लिखी, बाद को राम ने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्ति थे, अतः राम को उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकि के राम थे भी कैसे—**"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।"** राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकवि की काव्य-प्रतिभा को सत्य का आधार था, इसीसे उनके ललाट पर अमरत्व का लेख लिखा गया। सृष्टि के गूढ़ रहस्य अथवा समाज-हृदय की सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करने की शक्ति एक प्रकार की सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण, वह वाचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्य को हम खपा लेते हैं; इतना ही नहीं, सत्य हमें खटकता है। हमारी ऐसी दीन दशा है, इसीलिए कवि का उदय नहीं होता।

कवि की दृष्टि शाश्वत काल की ओर रहनी चाहिए। अनंत काल की ओर नजर हुए बिना भवितव्यता का परदा नहीं खुलता। प्रत्यक्ष से अंध हुई बुद्धि को सनातन सत्य गोचर नहीं होते। सुकरात को विष का प्याला पिलानेवाले तर्क ने सुकरात को मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगे की कल्पना उस टुटपुंजिये तर्क को न सूझी, लेकिन विषप्राशन के दिन आत्मा की सत्ता के संबंध में प्रवचन करनेवाले सुकरात को परे का भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यता के उदर में सत्य की जय को छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजह से वह वर्तमान युग के विषय में बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मन में रमे

विना कवि-हृदय का निर्माण नहीं हो सकता। संसार के सब रस करुण रस की गुलामी में लगे रहनेवाले हैं, यह बात समाज के चित्त पर अंकित कर देने का भवभूति ने अनेक प्रकार से प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाज को वह मान्य न हुआ। उसने भवभूति को ही फेंक दिया। पर कवि ने अपनी भाषा न छोड़ी। कारण, शाश्वत काल पर उसे भरोसा था। शाश्वत काल पर नजर रखने की हमारी हिम्मत नहीं होती। चारों तरफ से घिरा हुआ हिरन जैसे हताश होकर आसपास देखना छोड़ देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-त्रस्त बुद्धि से भावी काल की ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कल की ! आज जो मिले वह भोग लो", इस वृत्ति से काव्य की आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित ब्रह्मपरक मंत्र में यह अर्थ सुझाया गया है :

कविर्मनीषी: परिभू: स्वयंभू: ।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्य: समाभ्य: ।

अर्थ—कवि (१) मन का स्वामी, (२) विश्व-प्रेम से भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थ-भाषी और (५) शाश्वत काल पर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मनन के लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हूं—

(१) मन का स्वामित्व=ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम=अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता=अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व=सत्य, (५) शाश्वत काल पर दृष्टि=अपरिग्रह।

: ५ :

साक्षर या सार्थक

किसी आदमी के घर में यदि बहुत-सी शीशियां भरी धरी हों तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घर में

बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे सयाना समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या? आरोग्य का पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहांतक संभव हो, पोथी में आंखें न गड़ाना या कहिये आंखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी, फिर वह सांसारिक पोथी हो या पारमार्थिक पोथी हो, रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गईं, जिनके सयानेपन की सुगंध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगों का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बिना ढूंढ़े मिल जायंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षित के जीवन की तुलना करने से, **'अक्षराणामकारोऽस्मि'** गीता के इस वचन में कहे-अनुसार, 'सु' के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तक में अक्षर होते हैं, इसलिए पुस्तक की संगति से जीवन को निरर्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। "बातों की कढ़ी और बातों का ही भात खाकर पेट भरा है किसीका?" यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार, पोथी का कुआं डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं।" 'अश्व' मानी 'घोड़ा', यह कोश में लिखा है। बच्चे सोचते हैं, 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में लिखा है। पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले में बंधा खड़ा है। उसका कोश में समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोश का वाक्य इतना ही बतलाता है कि, 'अश्व शब्द का वही अर्थ है जो घोड़ा शब्द का है।' वह है क्या, सो तबेले में जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टि में रहता है। जब वह बात अक्ल में आयगी तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

जिसने जप की कल्पना ढूंढ़ निकाली उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व को संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिल्कुल भूंकने ही लगा है', यह देखकर

'उसके मुंह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारे का भूंकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनों को तेंतीस-तेंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंत में एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छंद के हैं। अनुष्टुप् छंद के अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन से थे ? 'रा-म'। शंकरजी ने वे दोनों अक्षर बंटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में खत्म कर लिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहित्य का सारा सार राम-नाम में ला रखा है। पर **'अभाग्या नरा पामरा हे कळे ना'**—इस 'अभागे पामर नर को यह नहीं सूझता।'

संतों ने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियों ने वेदों को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती तो 'ओं'कार का जप करो, बस। इतने से काम न चले तो नन्हा-सा मांडूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलब का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद् में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नहीं है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक व अनेक अक्षर घोखने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना है। तुकाराम का कहना है कि उन्हें संस्कृत सीखे बिना ही वेदों का अर्थ आ गया था। इस कथन को आज तक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य ने आठवें वर्ष में वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरु से पूछा, "महा-राज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसा पूरा कर लिया ?" गुरु ने

गंभीरता से उत्तर दिया, "आचार्य की बुद्धि बचपन में उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया। क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।' अंत में किसीकी सलाह से उसने खेत में काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनों में हृष्ट-पुष्ट होगया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगों को बतलाने लगा। किसीके हाथ में शीशी देखी कि बड़े मनोभाव से सीख देता, "शीशी से कुछ होने-जाने का नहीं, हाथ में कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनिया का ऐसा ही हाल है। दूसरे के अनुभव से सयानापन सीखने की मनुष्य की इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हित की बात कहता हूं कि "पोथियों से कुछ फायदा नहीं। फिजूल पोथियों में न उलझो", तो वह कहता है,"हां, तुम तो पोथियां पढ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!" "हां, मैं पोथियां पढ चुका, पर तुम न चूको, इसलिए कहता हूं।" वह कहता है "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभवों से हम सबक नहीं लेते, इसीसे इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कद्र करें तो इतिहास से आगे बढ़ जायं। इतिहास की कीमत लगाने से उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब न!

: ६ :

दो शर्तें

स्वराज्य का आंदोलन अबतक प्रायः शहरों में ही चलता था। पर अब धीरे-धीरे लोगों के दिमाग में यह आने लगा है कि गांवों में जाकर

काम करना चाहिए, पर गांवों में जाना है तो ग्रामीण बनकर जाना चाहिए। शिक्षण किसलिए ? 'उत्तम नागरिक बनाने को', ऐसा हम आज तक कहते आये हैं, या अंग्रेजी विद्या हमसे वैसा कहलाती है। पर 'नागरिक' उर्फ 'शहराती' आदमी बनाना, शिक्षण की यह नीति स्वराज्य के काम नहीं आनेवाली है, यह बात ध्यान में रखे बिना चारा नहीं है। हमें समझना चाहिए कि ग्रामीण बनाने की शिक्षा ही सच्चा शिक्षण है। उसी पाये पर स्वराज्य की रचना की जा सकेगी।

गांव में जाना चाहिए यह तो समझ में आने लगा है, पर ग्रामीण बनना चाहिए, यह बात आज भी मन में उतनी नहीं जमी है। यह वैसी ही बात हुई कि झोंपड़ी में तो जाना है, पर ऊंट से उतरना नहीं है। अभी यह समझना बाकी है कि ऊंट से उतरे बिना झोंपड़ी में प्रवेश नहीं हो सकता। मैं गांव में जाऊंगा और शहर का सारा ठाट साथ लेकर जाऊंगा। इसका मतलब यही है कि मैं गांव को शहर बनाऊंगा। इसी मतलब से गांव में जाना हो तो इससे तो न जाना ही अच्छा है। चाकरी की शर्त है, 'शिव बनकर शिव को पूजना।' किसान की चाकरी करनी हो, तो किसान बनकर ही की जा सकती है।

राष्ट्रीय पाठशालाओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। नाजुक शहराती बनाने की हवस छोड़कर करारे किसान तैयार कराने का मंसूबा बांधना चाहिए। हमारे शिक्षित लोग अगर ज़रा जफाकश हुए तो अंग्रेजों को वे चुभने लगेंगे और वे जरूर उनके रास्ते में अड़चनें पैदा करेंगे। पर हमें उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। अंग्रेज कहेंगे, "अंग्रेजी सीखो, नहीं तो अंधकार में पड़े रहोगे। अंग्रेजी सीख जाने से जग का ज्ञान तुम्हारी मुट्ठी में आ जायगा।" हमें उनसे इतना ही कहना चाहिए कि "जग का ज्ञान कि जगणे[1] का ज्ञान, हमारे सामने यह 'नकद' सवाल है। सारा जग हमारी मुर्दों में गिनती करता है, इतना समझने-भर का ज्ञान हमें हो चुका है।"

---

१. जीना।

अंग्रेजी के ग्रहण से छूटना ही चाहिए। इसके बिना राष्ट्रीय विद्यालयों का तेज फैलनेवाला नहीं है। अंग्रेजी-पढ़ा आदमी किसानों से बोल भी नहीं सकता, किसान बनने की बात तो दूर रही। उसकी और किसान की भाषा ही नहीं मिलती। किसानों के लिए उसके दिल में नफरत रहती है। गांव में रहना उसके लिए नामुमकिन है। इसलिए अंग्रेजी के मोह को धता बताये बिना उपाय नहीं। इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई भी अंग्रेजी न पढ़े। अंग्रेजी पढ़ने के लिए हम आजाद हैं। पर अंग्रेजी पढ़ने के लिए हम बंधे न हों। राष्ट्रीय पाठशालाओं को अंग्रेजी सीखने की मजबूरी दूर कर देनी चाहिए और मजदूरी पर जोर देना चाहिए। शारीरिक श्रम के बिना गांव के काव्य का अनुभव नहीं हो सकता।

मराठी पाठशाला में पढ़ते समय हमारे पाठ्यक्रम में 'सृष्टि-ज्ञान' की एक पोथी नियत थी। 'सृष्टि-ज्ञान' की भी पोथी! इस पोथी के सृष्टि-ज्ञान के बल पर हम जग को अनाड़ी कहेंगे और गांव में जायंगे भी तो उन अनाड़ी किसानों को 'सिखाने'। हमें गांवों में जाना चाहिए पर मुख्यतः सीखने के लिए, सिखाने के लिए नहीं। हमारे ध्यान में वह बात नहीं आती कि गांववालों को सिखाने लायक हमारे पास दो-चार चीजें हुई भी तो उनसे सीखने की दस-बीस चीजें हैं। कारण, मदरसे के किताबी ज्ञान से हमारी निगाह भटक गई है। जब हमें मजदूरी का महत्त्व सिखाया जायगा तभी हमारी दृष्टि स्थिर और स्वच्छ होगी और गांव में काम करने का तरीका भी सूझने लगेगा।

पर वर्त्तमान पद्धति के अनुसार तालीम पाये हुए बहुतेरे लोग देश-सेवा के उम्मीदवार बनकर आते हैं। वे क्या करें? मेरी समझ में उनका उपयोग हम जरूर कर सकेंगे। पर इस बीच में उन्हें दो चीजें सीख लेनी होंगी—(१) अंग्रेजी विद्या की सिखाई हुई बातें भूल जाना, (२) शारीरिक श्रम की आदत डालना। ये दो बातें आ जाने पर वे काम कर सकेंगे। आज अपने देश को हरएक मजदूर की मजदूरी की जरूरत है। जितने लोग आयें, कम हैं।

: ७ :

फायदा क्या है ?

कहते हैं रेखागणित की रचना पहले-पहल यूक्लिड ने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समय में ग्रीस के सब शिक्षितों के दिमाग राजनीति से भरे गए थे—या यों कहिये कि उनके दिमागों में राजनीति के पत्थर भरे गए थे। इस वजह से रेखागणित के कद्रदां दुर्लभ हो गए थे और यूक्लिड तो रेखागणित पर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखे पर मुग्ध एक मानव ने बहुतेरे राजनीति-विशारदों को चक्कर में डाल दिया है, वैसे ही यूक्लिड के घर पर रेखागणित के शिक्षार्थियों का जमघट लगता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञों की यूक्लिड कों ओर आकर्षित होते देखकर राजा के मन में आया, हम भी चल देखें, कुछ फायदा होगा।' उसने हफ्तेभर यूक्लिड के पास रेखागणित सीखा। अंत में उसने यूक्लिड से पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझ में आया कि इससे फायदा क्या है ?" यूक्लिड ने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्य से कहा, "सुनो जी, इन्हें चार आने रोज के हिसाब से सात दिन के पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजा की ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्ते का काम पूरा हो गया, कल से तुम कहीं और काम ढूंढ़ो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेंपने के बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़ने से खुश हुआ होगा ? हम लोगों की मनोवृत्ति उस ग्रीक राजा की-सी बन गई है।

हर बात में फायदा देखने की बहुतों की आदत पड़ गई है। सूत कातने से क्या फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होने तक के फायदे के बारे में खचियों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदावाली अक्ल को ज़रा और आगे हांक ले जायं, तो तत्त्व-ज्ञान की ठेठ चोटी पर पहुंच

जायंगे। तत्त्वज्ञान के शिखर से ये लोग केवल एक प्रश्न के ही पीछे हैं और वह प्रश्न है—"फायदे से भी क्या फायदा है ?" एक लड़का अपने बाप से कहता है, "बाबूजी, गाय-भैंस का फायदा तो समझ में आता है कि उनसे हम रोज दूध पीने को मिलता है; लेकिन कहिये तो इन बाघ-बघेरों और सांपों के होने से क्या फायदा है ?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्य के फायदे के लिए ही है, इस बेकार की गलतफहमी में हम न रहें, यही इनका फायदा है।"

कालिदास ने एक जगह मनुष्य को 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदास का मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलाने के अधिकारी हुए। सभी का अनुभव है कि मनुष्य को उत्सव प्रिय है, लेकिन क्यों प्रिय है ? पाठशाला के लड़कों को रविवार की छुट्टी क्यों प्यारी लगती है ? छः दिन दीवारों क घेरे में घिरे रहने के बाद रविवार को जरा स्वच्छदता से सांस ले पाते हैं, इस कारण। मनुष्य को उत्सव प्यारा क्यों है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दुःखों से दबा हुआ हृदय उत्सव के कारण हल्का हो जाता है। हमारे घर अठारह बिस्वे दारिद्र्य रहता है इसीसे लड़के का ब्याह रचने पर हम जेवनार में अठारह-दूना छत्तीस व्यंजन बनाना नही भूलते। सारांश यह कि मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवन के दुःखमय होने का सबूत है। वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई है यह हमारे राष्ट्र के महान् बौद्धिक दिवालियेपन का सबूत है।

हमेशा फायदे की शरण जाने की बान पड़ जाने से हमारे समाज में साहस का ही अभाव-सा हो रहा है। इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्र-वृत्ति और वैश्य-वृत्ति लुप्त-सी हो रही है। ब्राह्मण के मानी हैं साहस की साक्षात् प्रतिमा। मृत्यु के परले पार की मौज लेने के निमित्त जीवन की आहुति देने-वाला ब्राह्मण कहलायेगा। फायदा कहेगा, "मौत के बाद की बात किसने देखी है ? हाथ का घड़ा पटककर बादल का भरोसा क्यों करें !" फायदे के कोश में साहस शब्द मिलना ही संभव नहीं; और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता' ! यदि फायदे के कोश में जीवन-गीता की संगति बिठाई

जाय तो फल-त्याग की अपेक्षा त्याग का फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा। ऐसी स्थिति में सच्ची ब्राह्मण-वृत्ति के लिए ठौर ही कहां रहेगा ! "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है।" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्याग के लिए ही त्याग करने को कहते हो ?" "नहीं, त्याग के लिए त्याग नहीं कहता—फायदे के लिए त्याग सही ।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मियाद बताइयेगा या नहीं ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिन में मिलना चाहिए ?" वह कहेगा—"त्याग के दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है।" समर्थ गुरु रामदास ने, लोगों के लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए 'कार्यारंभ में देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए', इस कथन का अर्थ फायदे के कोश के अनुसार किया—"कार्यारंभी देव, अर्थात् काम के शुरू में कुछ तो देव (दो) ।" सारांश, फल ही देव है और वह काम करने के पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्वज्ञान ! जहां (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है, वहां ब्राह्मण-वृत्ति की बात ही कौन पूछता है !

परलोक के लिए इस लोक को छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नहीं करना है। इससे उतरकर हुई क्षात्र-वृत्ति, उर्फ मिलावटी पागलपन। इह-लोक में बाल-बच्चे, अड़ोसी-पडोसी या देश की रक्षा के लिए मरने की तैयारी का नाम है क्षात्र-वृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदे का सूत्र लगाकर देखिये, तो इस मिलावटी पागलपन का मतलब समझ में आ जायगा। राष्ट्र की रक्षा क्यों, अथवा स्वराज्य क्यों ? मेरे फायदे के लिए, और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा ? यह भावना आई कि क्षात्र-वृत्ति का साहस बिदा हुआ।

बाकी रही वैश्य-वृत्ति। पर वैश्य-वृत्ति में भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजों ने दुनियाभर में अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मत के नहीं फैलाया है। इंग्लैंड में कपास की एक डोंडी भी नहीं पैदा होती और आधे से अधिक हिंदुस्तान को कपड़ा देने की करामात कर दिखाई ! कैसे ?

इंग्लैंड के इतिहास में समुद्री यात्राओं के प्रकरण साहसों से भरे पड़े हैं। कभी अमेरिका की यात्रा तो कभी हिंदुस्तान का सफर; कभी रूस की परिक्रमा तो कभी सु-आशा अंतरीप के दर्शन; कभी नील नदी के उद्गम की तलाश है, तो कभी उत्तरी ध्रुव के किनारे पहुंचे हैं। यों अनेक संकट-भरे साहसों के बाद ही अंग्रजों का व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रों की गुलामी का कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभाव को तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्य-वृत्ति का साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण, फायदा नहीं दिखता।

जबतक तकलीफ सहन की तैयारी नहीं होती, तबतक फायदा दिखने का नहीं। फायदे की इमारत नुकसान की धूप में बनी है।

: ८ :

गीता-जयंती

कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अर्जुन को गीता का उपदेश जिस दिन दिया गया, वह मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी का दिन था, ऐसा विद्वानों ने निश्चित किया है। इसे सही मानकर चलने में कोई हर्ज नहीं है। इससे **'मासानां मार्गशीर्षोऽहं'**—महीनों में मार्गशीर्ष महीना मेरी विभूति है, इस वचन को विशेष अर्थ प्राप्त होता है। उस दिन हिंदुस्तान-भर में सर्वत्र गीता का स्वाध्याय—प्रवचन—हो, ऐसी सूचना की गई है।

सुझाव उचित ही है। पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि गीता-धर्म का प्रचार केवल प्रवचन और श्रवण से न होगा। गीता जबानी जमा-खर्च का शास्त्र नहीं, वरन् आचार-शास्त्र है। उसका प्रचार आचरण बिना और किसी तरह भी नहीं होने का। गीता का धर्म खुला हुआ धर्म है। किसीके लिए उसके सुनने की मनाही नहीं। स्त्री, वैश्य, शूद्र, जिनमें वेद के गहरे कुएं से पानी निकालने की शक्ति नहीं है, उनके लिए गीता के बहते झरने से मनमाना पानी

पाने की सुविधा संभव है। गीता-मैया के यहां छोटे-बड़े का भेद नहीं है, किंतु खरे-खोटे का भेद है। जिसकी तपश्चर्या करने की तैयारी नही है, जिसके हृदय में भक्ति का प्रवाह नहीं, सुनने की जिसकी तीव्र इच्छा नहीं, अथवा जिसकी बुद्धि में निर्मत्सर-भाव नहीं, उसके सामने यह रहस्य भूलकर भी प्रकट मत करना—भगवान् ने अर्जुन को यह आदेश दिया है।

गीता के प्रचार के मानी हैं निष्काम-कर्म का प्रचार; गीता के प्रचार के मानी हैं भक्ति का प्रचार; गीता के प्रचार के मानी हैं त्याग का प्रचार। यह प्रचार पहले अपनी आत्मा में होना चाहिए। जिस दिन उससे आत्मा परिपूर्ण होकर बहने लगेगी, उस दिन वह दुनिया में फैले बिना न रहेगा। गीता पर आज तक हिंदुस्तान में प्रवचनों की कमी नहीं रही है। तरह-तरह की टीकाएं भी लिखी गई हैं। गीता के तात्पर्य के संबंध में समाचारपत्रों आदि में पुराने, नये शास्त्री-पंडितों का वाद-विवाद भी काफी हुआ है। पर अनुभव से यह नहीं जान पड़ता कि इनसे साक्षात् निष्काम कर्म को कुछ उत्तेजन मिला हो; उलटा, उनसे रजोगुण का तो जोर बढ़ा है। मन-भर चर्चा की अपेक्षा कन-भर अर्चा श्रेष्ठ है। 'उठ भोर राम का चिंतन कीजै' इस वाक्य के लिखनेवाले का उद्देश्य यह नहीं है कि इसे घोखता बैठे, बल्कि यह है कि प्रातःकाल उठकर राम का चिंतन करे।

गीता का रहस्य गीता की पोथी में छिपा हुआ नहीं है। यह तो खुला हुआ है। भगवान् खुद ही कहते हैं कि मैंने उसे सूर्य से कहा है। यह इतना खुला है कि जिसके आंखें हों वह उसे देख सकता है और यदि छिपा हुआ ही है तो गीता की पोथी में तो निश्चय ही नहीं छिपा है। वह हृदय की गुफा में छिपा है। इस गुफा के मुंह पर दुर्वर्तन के पत्थरों का ढेर लग गया है। इन्हें हटाकर अंदर देखना चाहिए। उनके लिए मेहनत करनी पड़ेगी। गीता 'कुरु'-क्षेत्र में कही गई है। संस्कृत में 'कुरु' का अर्थ है, कर्म कर! कुरुक्षेत्र मानी कर्म की भूमि। इस कर्म की भूमिका पर गीता कही गई है और वहीं उसे मेहनत के कानों से सुनना है।

बहुतेरों की समझ है कि मिशनरी लोग जैसे बाइबिल की प्रतियां मुफ्त

बांटते हैं उसपर व्याख्यान देते हैं, कोई सुने न सुने, अपना राग अलापे जाते हैं; वैसे ही हम गीता के बारे में करें तो हमारे धर्म का प्रचार होगा। पर यह कोरा वहम है। मिशनरियों ने जो बहुत ही थोड़ा-सा सच्चा धर्म-प्रचार किया है वह उनमें कुछ सज्जनों की सेवा का फल है। बाकी का उनका धर्म-प्रचार दंभ है। इस दंभ से उनके काम को नुकसान पहुंचा है। उनके अनुकरण से हमारा कोई लाभ नहीं होगा।

अत: गीता-जयंती के दिन गीता के प्रचार की बाह्य कल्पना पर जोर न देकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हाथ से कुछ-न-कुछ निष्काम सेवा बने। साथ ही, भक्तियुक्त चित्त से यथाशक्ति गीता का थोड़ा-सा पाठ करना भी उपयुक्त है।

: ९ :

पुराना रोग

अस्पृश्यता के हिमायती एक दलील यह पेश किया करते हैं कि यह पुरातन काल से चली आ रही है। पर यह बात दलील कैसे हो सकती है, यह समझना कठिन है। माना कि 'पुरानी पूंजी' की रक्षा करनी चाहिए; पर रक्षा में बढ़ाना, जीर्णोद्धार करना वगैरा कई बातें शामिल हैं। अपना पुराना घर तो प्यारा लगता है, पर क्या उसमें चूहों और छछूंदरों के बिल भी प्यारे होंगे? पेट की संतान प्यारी होने से क्या पेट का रोग भी प्यारा होगा? और वह भी पुराना? फिर उसका इलाज करायें क्या? जीर्णोद्धार में भी बाधा देनेवाली इस जीर्ण भक्ति को क्या कहा जाय? साक्षात् उपनिषद् के ऋषियों ने यह स्पष्ट आज्ञा दी है—**यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।** "हमारे जो अच्छे काम हैं उनका अनुकरण करो, दूसरे कामों का नहीं।" हम अपनी विवेक-बुद्धि से इस्तीफा देकर साफ तौर से उनकी आज्ञा-भंग करते हैं और उल्टे मानते हैं कि हम उनकी आज्ञा पालते

हैं। यह आत्मवंचन नहीं तो क्या है!

इसमें भी 'भूत को भागवत का आधार' मिलनेवाली बात हो जाने पर तो आत्मवंचना की हद हो जाती है। कहते हैं, अस्पृश्यता के लिए आधार है, आद्य शंकराचार्य का! अद्वैत के सिद्धांत का प्रतिपादन करना जिनका जीवन-कार्य था, अमंगल 'भेदाभेद-भ्रम' को उनका आधार! कैसा अचरज है! संतों का आधार लेना ही हो तो उनके उत्तर-चरित्र से लिया जाता है, पूर्व-चरित्र में से नहीं लिया जाता। शंकराचार्य के चरित्र में जो चांडाल की कथा है, वह उनके पूर्व-चरित्र की है, इस आधार पर अगर अस्पृश्यना मान्य ठहराई जाय, तो वाल्मीकि के पूर्व-चरित्र के आधार पर ब्रह्म-हत्या भी मान्य ठहरेगी! और फिर अमान्य क्या रह जायगा! कारण, साधु हुआ तो भी साधुत्व की योग्यता प्राप्त होने के पूर्व तो वह साधु नहीं ही होता। उस समय के उसके चरित्र में चाहे जो मिल जायगा। इसीलिए कहावत है, "ऋषि का कुल मत देखो!" देखना ही हो तो उसका उत्तर-चरित्र देखना चाहिए और सो भी विवेक साथ रखकर; पूर्व-चरित्र देखने से क्या मतलब!

आचार्य-चरित्र में वर्णित चांडाल की कहानी यों है—आचार्य एक बार काशी जा रहे थे और उसी रास्ते पर एक चांडाल चला जा रहा था। उन्होंने उसे हट जाने को कहा। तब चांडाल ने उनसे पूछा—"महाराज, अपने अन्न-मय शरीर से मेरे अन्नमय शरीर को आप परे हटाना चाहते हैं या अपने में स्थित चैतन्य से मेरे अंदर के चैतन्य को? शरीर किसीका हो, वह स्पष्टतः 'गंदगी की गठरी' है और आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यंत शुद्ध है। ऐसी स्थिति में अस्पृश्यता किसकी और किसके लिए?" यह उसके प्रश्न का भाव है। पर इतना कहकर ही वह चांडाल चुप नहीं रहा। उसने फटकार और आगे बढ़ाई—"गंगा-जल के चंद्रमा और हमारे हौज के चंद्रमा में कुछ अंतर है? सोने के कलसे के आकाश में और हमारे मिट्टी के घड़े के आकाश में कुछ फर्क है? सर्वत्र आत्मा एक ही है न? फिर यह ब्राह्मण और वह अंत्यज का भेद-भ्रम आपने कहां से निकाला?"—**विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः**?—इतनी फटकार सुनकर आचार्य के कान ही

नहीं, आंखें भी खुल गईं और नम्रता से उसे नमस्कार करके बोले, "आप-सरीखा मनुष्य, फिर चाहे वह चांडाल हो या ब्राह्मण, मेरे लिए गुरु-स्थानीय है।"—**चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।**" इस बातचीत से क्या अनुमान निकाला जाय, यह पाठक ही तय कर लें।"

जिस रास्ते अपने बड़े-बड़े गये उस रास्ते हमें जाना चाहिए, यह मनु ने भी कहा है। पर वह 'सन्मार्ग' हो तो, यह उन्हीं का बताया हुआ अपवाद है। वह श्लोक देकर यहीं समाप्त करता हूं।

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात् 'सतां मार्गं' तेन गच्छन्न रिष्यति॥

: १० :

श्रवण और कीर्तन

प्रह्लाद ने नौ प्रकार की भक्ति कही है। उनमें भक्ति के दो प्रकार श्रवण और कीर्तन को बिल्कुल आरंभ में रखा है। भक्ति-मार्ग में श्रवण-कीर्तन की बड़ी महिमा गाई गई है। सुनी हुई वस्तु को बार-बार सुनना, कही हुई बात को बार-बार कहना, भक्तों की रीति है। तीनों लोक में विचरना और बराबर बोलते रहना नारद-सरीखों का जन्म का धंधा है। उच्च वर्ग के लोगों में, मध्यम वर्ग के लोगों में, निचले वर्ग के लोगों में—तीनों लोकों में ही नारद-जी की फेरी होती है और बराबर कीर्तन चलता है। कीर्तन का विषय एक ही है—वही भक्तवत्सल प्रभु, वही पतित-पावन नाम ! दूसरा विषय नहीं, दूसरी भाषा नहीं। वही गाना, वही रोना; वही कहना, वही चिल्लाना ! न आलस्य है, न परेशानी; न थकावट है, न विश्राम ! गाते-गाते फिरना और फिरते-फिरते गाना !

जैसे नारद-सरीखों के लिए निरंतर गाना है वैसे धर्मराज-सरीखों के लिए सतत सुनना। महाभारत के वनपर्व और शांतिपर्व ये दोनों विशाल पर्व

धर्मराज की श्रवण-भक्ति के फल हैं। वनवास में रहते समय जो कोई ऋषि मिलने आता, धर्मराज उसकी खुशामद करते। भक्ति-भाव से प्रणिपात करके जो सेवा बनती करते और जहां ऋषि ने कुशल-प्रश्न किया कि अपनी करुण कहानी कहने का निमित्त बनाकर लगते प्रश्न पूछने, "महाराज, द्रौपदी पर आज जैसा संकट है, वैसा आजतक कभी किसीपर पड़ा था क्या ?" वह कहते, "क्या पूछते हैं यह आप ? बड़ों-बड़ों ने जो कष्ट सहे हैं उनके मुकाबले में तो द्रौपदी का और आपका कष्ट किसी गिनती में नहीं है। सीता को, राम को, क्या कम कष्ट सहने पड़े ?" धर्मराज फिर पूछते, "सो कैसे ?" इतना सहारा पा जाने के बाद ऋषि का व्याख्यान चलता। सारी राम-कहानी अथ से इति तक वह कहते और यह प्रेमयुक्त चित्त से सुनते। दूसरे किसी अवसर पर ऐसे ही कोई ऋषि आकर नल-दमयती का नाम ले लेते तो धर्मराज फौरन सवाल करते, "वह क्या कथा है ?" अब राम की सीता कौन थी और नल-दमयंती की कथा क्या है, इतिहास का इतना अज्ञान धर्मराज में होना कैसे माना जा सकता है ! पर जानी हुई कथा भी संतों के मुख से सुनने में एक विशेष स्वाद होता है। इसके सिवा वही वस्तु बराबर सुनने से विचार दृढ़ होता है। इसलिए धर्मराज ऐसे श्रवण-प्रेमी बन गये थे।

पर पुरानी बात जाने दीजिये। बिल्कुल इसी जमाने का उदाहरण लीजिये। नारद की तरह ही तुकाराम महाराज ने अंतिम घड़ी तक कीर्तन-भक्ति की गूंज जारी रखी। रोज रात को भगवान् के मंदिर में जाकर कीर्तन करने का उनका क्रम आमरण अबाधित रूप से चला। लोग जाय, न जायं, भगवान् के सामने कीर्तन तो होगा ही। न सुननेवाले देवता को भी कीर्तन सुनाना जिनका व्रत हो गया था वे यदि सुननेवाले देवताओं को 'यथाधिकार' उपदेश करने का काम जोरों से करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! समाज की बिल्कुल निचली श्रेणी से लेकर ठेठ ऊपर की श्रेणी तक सबको तुकाराम महाराज ने भगवान् का नाम सुनाया। घर में, मंदिर में, घाट में, बाट में, सर्वत्र वही एक-सा सुर। पत्नी को, बेटी को, भाई को, जमाई को, गांव के मुखिया को, देश के शासक को, शिवाजी महाराज को, रामेश्वर भट्ट को, अंबाजी

बुवा को—सबको तुकाराम महाराज ने हरि-नाम का एक ही उपदेश किया, और आज भी उनकी अभंग वाणी वही काम अव्याहत रूप से कर रही है।

इधर के इतिहास मे जैसे हमें तुकाराम-सरीखे 'सदा बोलते' भक्ति के स्रोत मिलते हैं वैसे ही उस स्रोत से नहर काटकर राष्ट्र के धर्म-क्षेत्र की बागवानी करनेवाले शिवाजी-जैसे श्रवण-दक्ष किसान भी देखने को मिलते हैं। पच्चीस-पच्चीस मील की दूरी से कीर्तन सुनने के लिए बराबर दौडते जाना उनका नियम था; और जो कुछ सुनना वह आलस-वालस झाड़कर जी लगाकर सुनना, और जैसा सुनना उसके अनुसार आचरण करने का बराबर प्रयत्न करना। इसीको 'श्रवण' कहना चाहिए। शिवाजी महाराज ने सतत श्रवण किया। कोई सत्पुरुष मिल गए तो उनसे सुनने का मौका उन्होंने सहसा हाथ से नहीं जाने दिया। तभी सब उद्योगों में लगाने के बाद भी बच रही इतनी स्फूर्ति का खजाना उनके हृदय में जमा हो सका।

भक्ति-मार्ग में जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते हैं, उसीको उपनिषद् मे स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्याय के मानी हैं सीखना और प्रवचन के मानी सिखाना। इस सीखने और सिखाने पर उपनिषदों का उतना ही जोर है जितना श्रवण और कीर्तन पर संतों का। **सत्यं वद ! धर्मं चर ! स्वाध्यायान्मा प्रमदः !**—सच बोलो, धर्म पर चलो और स्वाध्याय से मत चूको, इन तीन सूत्रों में ऋषि की सारी सिखावन आगई। स्वाध्याय और प्रवचन, अर्थात् सीखने-सिखाने का महत्त्व ऋषियों की दृष्टि में इतना ज्यादा था कि मनुष्य के लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्म के तत्त्व बतलाते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्व के साथ स्वाध्याय-प्रवचन का पुनः-पुनः उल्लेख किया है। 'सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन', 'तप और स्वाध्याय-प्रवचन', 'इंद्रिय-दमन और स्वाध्याय-प्रवचन', 'मानसिक शांति और स्वाध्याय-प्रवचन', इस प्रकार प्रत्येक कर्त्तव्य को अलग-अलग कहकर हर बार ऋषि ने स्वाध्याय-प्रवचन का हेतु और विषय तो बतलाया ही, साथ ही उसका महत्त्व भी बता दिया है।

हमारा स्वराज्य-आंदोलन अत्यंत व्यापक और गंभीर आंदोलन है। वह

एक ओर तीस करोड़ लोगों से—मानव-प्रजा के एक पंचमांश से—संबंध रखनेवाला होने के कारण विशाल है और दूसरी ओर आत्मा का स्पर्श करनेवाला होने के कारण गंभीर है।

तीस करोड़ आदमियों से ही इस आंदोलन का संबंध है, यह कहना भी संकुचित है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि सारे मानव-जगत् की भवितव्यता इस आंदोलन से संबधित है। पैर का नन्हा-सा कांटा निकालना भी सिर्फ पांव का सवाल नहीं होता। सारे शरीर का हित-संबंध उससे रहता है। फिर बिगड़े हुए कलेजे को संभालने का सवाल सारे शरीर को सुधारने का सवाल कैसे नहीं है? अवश्य यह सारे शरीर का सवाल है; और कोई आसान सवाल नहीं है, जीने-मरने का सवाल है—'यक्ष-प्रश्न' है। जवाब दो, नहीं तो जान दो, इस तरह का सवाल है। काल की दृष्टि से अत्यंत प्राचीन, लोक-संख्या के हिसाब से जगत् के पांचवें हिस्से के बराबर, विस्तार की दृष्टि से रूस को छोड़कर पूरे यूरोप के बराबर, संस्कृति में उदार उच्च, अद्भुत, प्राकृतिक संपत्ति में जगत् के लिए ईर्ष्या की वस्तु, हिंदू और बौद्ध इन दो विश्वव्यापक धर्मों को जन्म देनेवाली और इस्लाम का विस्तार-क्षेत्र बनी हुई, वाङ्मय-वैभव में अद्वितीय यह भारत-भूमि ब्रिटिश साम्राज्य के मुकुट का हीरा ही नहीं, बल्कि साम्राज्य की निगली हुई हीरे की कनी है—इसके जीवन-मरण पर दुनिया का भाग्य अवलंबित है। इसलिए आज के हमारे स्वराज्य-आंदोलन का संबंध सिर्फ तीस करोड़ भारतीय जनता से ही न होकर सारे जगत् से है। और दूसरी ओर यह आंदोलन आत्मा को स्पर्श करने वाला है, यह कहने से उसकी सच्ची गंभीरता की कल्पना नहीं होती। स्वराज्य का यह आंदोलन आत्म-शुद्धि करनेवाला है और आत्म-शुद्धि का वेग साक्षात् परमात्मा से भेंट किये बगैर थमनेवाला नहीं। इसलिए इस आंदोलन का घनफल परमात्मा से गुणित मनुष्य की दुनिया का क्षेत्र के गुणनफल के बराबर होगा।

आंदोलन के इतने विशाल और गंभीर होने की वजह से उसकी सिद्धि के लिए दो बातों की फिक्र रखना जरूरी है। एक तो उसे किसी खूंटे से कसकर

बांध देना चाहिए नहीं तो वह हाथ से निकल भागेगा और दूसरे उसके तत्त्वों का श्रवण-कीर्तन जारी रखना चाहिए।

इनमें आंदोलन का खूंटा अब निश्चित होगया है। चरखा हमारे सारे आंदोलन का खूंटा है। इसके चारों ओर आंदोलन का चक्र फिराते रहना चाहिए। सुविधा और आवश्यकतानुसार कछुआ अपने अंग कभी अपने मजबूत कवच के अंदर खींच लेता है और कभी बाहर फैला देता है। वैसे ही चरखे का मजबूत खूंटा कायम करके उसके आश्रय में हम आंदोलन के दूसरे अवयवों को कभी बाहर पसारते, कभी भीतर बटोरते चलेंगे। आज हमने अपने आंदोलन के अवयव भीतर खींच लिये हैं, मौका पड़ने पर फिर बाहर पसारेंगे, पर कभी इस चरखे के खूंटे को छोड़ना नहीं होगा। ब्रह्म 'सर्वगत सदासम' है, इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि वह कब चकमा देकर निकल भागेगा। इसलिए उस ब्रह्म को किसी मूर्ति में कैद किये बिना भक्त का काम नहीं चलता। वैसे ही आंदोलन विश्वव्यापी हुआ कि कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसलिए उस आंदोलन की चरखे में प्राण-प्रतिष्ठा है और कुछ हो या न हो, इस मूर्ति की पूजा में कभी चूक नहीं होनी चाहिए।

और इतने ही महत्त्व की दूसरी बात है आंदोलन के तत्त्वों के सबके कानों पर बराबर पड़ते रहने की व्यवस्था। वास्तव में ये दोनों बातें अलग-अलग नहीं हैं। एक ही बात के दो अंग हैं। कीर्तन करना हो तो सामने मूर्त्ति का होना जरूरी है। देवता की मूर्ति के बिना कीर्तन नहीं हो सकता। गंगा का पानी समुद्र की ओर जाता है तो तीर पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ जाता है, पर जाता है समुद्र की ओर ही। वैसे ही कीर्तन की धारा बहती है भगवान् के सम्मुख ही, सुननेवाले तीर पर के वृक्षों के समान हैं। स्वराज्य के आंदोलन की स्थापना चरखे की मूर्ति में करनी और उस मूर्त्ति के सामने अखंड कीर्तन की जयजयकार जारी रखना है। यह भजन-कार्य हरएक शहर में, हरएक गांव में हरएक घर में, शुरू होना चाहिए। कीर्तन की गुंजार से दुनिया को गुंजा देना चाहिए। यह हम कर पायं तो यह पक्की बात है कि एक क्षण में राष्ट्र का कायापलट हो जाय।

: ११ :

रोज की प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !
मृत्योर्माऽमृतं गमय !

हे प्रभो, मुझे असत्य से सत्य में ले जा ! अंधकार से प्रकाश में ले जा ! मृत्यु में से अमृत में ले जा !

इस मत्र में हम कहां हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है और हमें कहां जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है । हम असत्य में हैं, अंधकार मे हैं, मृत्यु में हैं—यह हमारा जीव-स्वरूप है । हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है—यह हमारा शिव-स्वरूप है ।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है । जीव और शिव, ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है । मुक्त के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है; कारण, उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है । शिव-स्वरूप का एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया । जड़ के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है; कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है । जीव-स्वरूप का एक ही बिंदु नजर के सामने है, इसलिए मार्ग आरंभ ही नहीं होता । मार्ग बीचवाले लोगों के लिए है; बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु । उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मत्रवाली प्रार्थना है ।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'असत्य से सत्य की ओर जाने का मैं बराबर प्रयत्न करूंगा'—इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना । प्रयतनवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता । यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूं, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूं और जबान से 'मुझे असत्य से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना

किया करता हूं, तो इससे क्या मिलने का है ! नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ! असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि "मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूंगा और अपनी शक्ति-भर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूंगा।"

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूं, पर फल मेरी मुट्ठी में थोड़े ही है ! फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा ! मेरी शक्ति कितनी अल्प है !. ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूं ! मैं सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं, तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंजिल पर नहीं पहुंच सकूंगा। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूं पर अंत में मैं रास्ता काटूंगा कि बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ! इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मंजिल पर पहुंच जाऊंगा, यह घमंड फिजूल है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पास का संपूर्ण बल काम मे लाकर, अधिक बल की ईश्वर से मांग करना—यही प्रार्थना का मतलब है।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है; प्रयत्नवाद में निरहंकार-वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है; फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किंतु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है वह जरूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इतना मेल साधती है। **मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः**—गीता में सात्त्विक कर्ता का यह

जो लक्षण कहा गया है उसमें प्रार्थना का रहस्य है । प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न । सारांश, 'मुझे असत्य से सत्य में ले जा', इस प्रार्थना का संपूर्ण अर्थ होगा—'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा ।' यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए—

'हे प्रभो, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा ! अंधकार से प्रकाश में ले जा ! मृत्यु में से अमृत ले जा !'

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजी की रामायण का सारे हिंदुस्तान के साहित्यिक इतिहास में एक विशेष स्थान है । हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है, अतः राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका स्थान अद्वितीय है ही । साथ ही साथ हिंदुस्तान के सात-आठ करोड़ लोगों के लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है, नित्य-परिचित और धर्म-जागृति का एकमात्र आधार है ; इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी वह बेजोड़ कही जा सकती है और राम-भक्ति का प्रचार करने में **शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्** के न्याय से वह अपने गुरु वाल्मीकिरामायण को भी पराजय का आनंद देनेवाली है, इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपना सानी नहीं रखता । तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करने पर अन्वयालंकार का उदाहरण हो जाता है कि "राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है ।"

एक तो रामायण का अर्थ ही है मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का चरित्र, तिसपर तुलसीदास ने उसे विशेष मर्यादा से लिखा है, इसलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकों के हाथ में देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है । इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादा का ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर

भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसी की भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति का अंतर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का अंतर है। साथ ही, तुलसीदासजी का अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक सम्बन्ध है। अधिकांश वर्णनों पर, खासकर भक्ति के उद्‌गारों पर, भागवत की छाप पडी हुई है, गीता की छाप तो है ही। महाराष्ट्र के भागवत-धर्मी संतों के ग्रंथों से जिनका परिचय है उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपने गांव में वापस आने पर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिर से द्वारकापुरी में लौटकर तो नहीं आ गया, उसी तरह तुलसीदासजी को रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाज के वचनों से परिचित पाठकों को 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ रहे हैं', ऐसी शंका हो सकती है, उसमें भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजी की रामायण इन दोनों में विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत में उतरी है। एकनाथ के भागवत ने ही रानाडे को पागल बना दिया। एकनाथ कृष्ण-भक्त थे, तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथ ने कृष्ण-भक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्ण-भक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यंत मर्यादाशील। इस कारण इस विषय में उन्हें तुलसीदासजी से दो नंबर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजी की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांड में है। उसी कांड में उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांड में भरत की भूमिका अद्‌भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्ति को चुनने में उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही राम के अनन्य भक्त थे, लेकिन एक को राम की संगति का लाभ हुआ और दूसरे को वियोग

ा। पर वियोग ही भाग्यरूप हो उठा, इसलिए कि वियोग में ही भरत ने गति का अनुभव पाया। हमारे नसीब में परमात्मा के वियोग में रहकर ही ाम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा संगति का भाग्य हमारा कहां! इस-लए वियोग को भाग्यरूप में किस तरह बदल सकते हैं इसे समझने में भरत ा आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्त्व अधिक है। रीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का ानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। लटे शारीरिक वियोग में ही मानसिक संयोग हो सकता है। उसमें संयम की रीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढ़ती ही है। आनंद की दृष्टि से खें तो साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न का आनंद कुछ ौर ही है। सिर्फ अनुभव करने की रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तों में यह सिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते, वे भक्ति में ही खुश हते हैं। भक्ति का अर्थ बाहर का वियोग स्वीकार कर अंदर से एक हो जाना । यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परम भाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य । भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी बड़ा था; पर एक तो मारी किस्मत में वह नहीं, और फिर कुछ भी कहिये, वह है भी कुछ घटिया ी। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं है, बल्कि उपवास मीठा है, ह भी है। भरत के भाग्य में उपवास की मिठास है।

लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' में संन्यासी को लक्ष्य कर यह कटाक्ष क़या है कि 'संन्यासी को भी मोक्ष का लोभ तो होता ही है।' पर इस ताने को ग्रर्थ कर देने की युक्ति भी हमारे साधु-संतों ने ढूंढ़ निकाली है। उन्होंने लोभ ो ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्ति की नमक-रोटी से खुश हैं, ुक्ति की ज्योनार के प्रति उन्होंने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वर ने तो **भोग-ोक्ष निमलाण। पायातलीं** (भोग और मोक्ष पैर-तले पड़े हुए उतारा-ंसे हैं), **मोक्षाची सोडीबांधी करी** (मोक्ष की पोटली को बांधती छोड़ती ;, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथ की चीज है), **चहूं पुरुषार्थी शिरीं। भक्ति जैसी**

(चारों पुरुषार्थों से श्रेष्ठ भक्ति-जैसी) आदि वचनों में मुक्ति को भक्ति की टहलुई बनाया है और तुकाराम ने तो **नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव** (मुझे न ब्रह्म-ज्ञान चाहिए और न आत्म-साक्षात्कार) कहकर मुक्ति से इस्तीफा ही दे दिया है। **मुक्तीवर भक्ति** (मुक्ति से भक्ति बढकर है) इस भाव को एकनाथ ने अपनी रचनाओं में दस-पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरात में नरसिंह मेहता ने भी **हरिना जन तो मुक्ति न मांगे** (हरि का जन मुक्ति नही मांगता) ही गाया है। इस प्रकार अंततः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवों की परंपरा मुक्ति के लोभ से सोलहों आने मुक्त है। इस परंपरा का उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद से हुआ है—**नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः**—इन दीन जनों को छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होने की इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान् को दिया। इस कलियुग में श्रौत-स्मार्त्त संन्यास-मार्ग की स्थापना करनेवाले शकराचार्य ने भी **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः**—गीता के इस श्लोक का भाष्य करते हुए **संगं त्यक्त्वा** का अर्थ अपने पल्ले पे डालकर **मोक्षेऽपि फले संगं त्यक्त्वा,** "मोक्ष की भी आसक्ति का त्याग कर", इन शब्दों मे किया है।

तुलसीदासजी के भरत इस भक्ति-भाव की मूर्ति हैं। उनका मांगना तो देखिये—

धरम न अरथ न काम-रुचि,
गति न चहउँ निरबान।
जनम-जनम रति राम-पद
यह वरदान न आन॥

यों तिलकजी के ताने को संतों ने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरत में वियोग-भक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है, इसीसे तुलसीदासजी के वह आदर्श हुए। भरत ने सेवा-धर्म को खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा का संपूर्ण पालन किया, भगवान् का कभी विस्मरण नहीं होने दिया, आज्ञा समझकर प्रजा का पालन किया; पर उसका श्रेय राम के चरणों में अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगर में रहकर वनवास का अनुभव किया। वैराग्य-युक्त

चित्त से यम-नियमादि विषम व्रतों का पालन कर आत्मा को देव से दूर रखने वाले देह के पर्दे को झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते, तो मुझ-जैसे पतित को राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम बिसम व्रत आचरत को!
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को!

रामायण में राम-सखा भरत, महाभारत में शकुंतला का पराक्रमी भरत और भागवत में जीवन्मुक्त जड़भरत ये तीन भरत प्राचीन भारत में विख्यात हैं। हिंदुस्तान को 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुंतला के वीर भरत से मिली, ऐसा इतिहासज्ञों का मत है; एकनाथ ने ज्ञानी जड़भरत से यह मिली, ऐसा माना है। संभव है, तुलसीदासजी को लगता हो कि यह राम-भक्त भरत से मिली है। पर चाहे जो हो, आज के वियोगी भारत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है, तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

: १३ :

कौटुम्बिक पाठशाला

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाजशास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला

स्थापित करे। इस लेख में शालीन कुटुंब के विषय में हमें नहीं विचारना है, कौटुंबिक पाठशाला के संबंध में ही थोड़ा दिग्दर्शन कराना है। छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उसपर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसी कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेख में करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसार में सार वस्तु है, इसलिए नित्य के कार्यक्रम में दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। **सर्वेषामविरोधेन** यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट-संबंध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालों के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको यह आनी चाहिए। स्वावलंबन का यह एक अंग है।

(४) कौटुंबिक पाठशाला को अपने पायखाने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पायखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों-सहित सबको मदरसे में स्थान मिलना चाहिए, यह तो

है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशाला में पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मों की तरह सोने के पहले के 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से संबंध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होने का। 'कर्मातिशेषण' अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर को तीन घंटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्म की प्रार्थना की भांति नित्य कर्म में गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्य-कर्म यात्रा में या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़े में खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहांतक संभव हों, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है। पर मौज के लिए या

ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात का जागरण निषिद्ध है। नींद के लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रात में भोजन नहीं खाना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियों में इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयों में संपूर्ण जागृति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुंबिक शाला के जीवन-क्रम के संबंध में चौदह सूचनाएं की गई हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के बारे में ब्यौरा नहीं दिया गया है। उसपर लिखना हो तो अलग लिखना पड़ेगा। राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में जिन्हें 'रस' है वे इन सूचनाओं पर विचार करें और शंका, सूचना वा आक्षेप जो सूझें, सूचित करें।

: १४ :

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पंद्रह-बीस बरसों में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लंबाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम-क्रम से थोड़ी-थोड़ी होती है, इसलिए उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये तब दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट होगई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है

कि अमुक वर्ष के बिल्कुल आखिरी दिन तक मनुष्य जीवन के विषय में पूर्ण रूप से गैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं, यही नहीं, उसे गैर-जिम्मेदार रहना चाहिए; और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैर-जिम्मेदारी से संपूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज!

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊंचे विचारों के महल बना रहा है, "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूंगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है, पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है, आज तक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नहीं और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिए वन-वन फिरनेवाले शिवाजी, करुण गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरी की तो कभी औरत की, कभी लड़की के लिए वर की और अंत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या! आगे कालेज में जाऊंगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे, लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभीसे उसका विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं ? यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें ! कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है, आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वे ही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे; पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी, आज की आवाज में थोड़ी चिंता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो अब 'गृहस्थ' से, वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं ?' 'ततः किं ?' 'ततः किम् ?' यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आंखों से देखते हैं। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते हैं उनका मरण टलता है; और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आंखवाले को यह खंभा पहले ही दिखाई देता है, अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है ! अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और

मरण दोनों आनंद की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिता ने, ईश्वर ने, वह हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन, दुःखमय नहीं रचा, पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की जिंदगी चाहेगा ! तिसपर ईश्वर के प्रेम और करुणा का कोई पार है ! वह अपने लाड़ले बच्चों के लिए सुखमय जीवन निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटों से भरा जीवन रचेगा ! कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिये न ! हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है, उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इंतजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। 'आतमा' सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु होने के कारण वह हरएक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड़ जवाहरात—जमा करने—जितने जड बन जायं तो तकलीफ हमें होगी ही; पर यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नही।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है; वह आनंद से ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनद से भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ वह सारे शिक्षरण का फल गंवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिंदगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चों में पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसप-नीति के अरसिक माने हुए, परंतु वास्तविक, मर्म को समझनेवाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की

पेक्षा मोतियों को मान देना छोड दिया तो जीवन के अंदर का कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। बंदर के हाथ में मोतियों की माला (मरकट भूषण अग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के संबंध में डार्विन का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची, वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने-लायक वस्तु हो, तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई, वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नहीं है—कहना चाहिए, वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो, रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो।' व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अंतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालों का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतंत्र धंधे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि के बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर

'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है । 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा, शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षण के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली ! पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा; पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वह बहुत ठोकर न खाने पायं, और धीरे-धीरे वे स्वावलंबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है—और **मा फलेषु कदाचन** की मर्यादा इस फल के लिए भी लागू है। खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी **इदमद्य मया लब्धम्**—आज मैंने यह पाया, **इद प्राप्स्ये**—कल वह पाऊंगा, इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए इस शिक्षण-प्रमोह से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उनकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियों का इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायं, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने का' जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दु:ख और पातक नष्ट ही हो जायं। इसीसे मनु ने, **योऽर्थशुचिः स हि शुचिः**, "जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है", ये यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। **सर्वेषामविरोधेन** कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध-वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शरीर-शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। **उदर भरण नोहे, जाणजे यज्ञ कर्म**—यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञकर्म जान!—वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अत: मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा. यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्ति-भर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन न पैदा होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

: १५ :

केवल शिक्षण

एक देशसेवाभिलाषी से किसीने पूछा—"कहिये, अपनी समझ में आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं?"

उसने उत्तर दिया—"मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षण का कार्य कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"वह तो ठीक है। अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन् उसका उसे शौक होता ही है; पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?"

"जीं नहीं। दूसरा कोई काम करना नहीं आयगा। सिर्फ सिखा सकूंगा, और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हां-हां, अच्छा सिखाने में क्या शक है; पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब, सिलाई, रंगाई या बढ़ईगीरी?"

"न, यह सब कुछ नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेलू काम सिखा सकेंगे?"

"नहीं, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं। मैं केवल शिक्षण का..."

"भाई, जो पूछा जाता है उसीमें 'नहीं-नहीं' कहते हो और कहे जाते हो, 'केवल' शिक्षण का काम कर सकता हूं। इसके मानी क्या हैं? बागबानी सिखा सकियेगा?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढ़कर कहा—"यह क्या पूछ रहे है? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्त्ता ने जरा मजाक से कहा—"ठीक कहा । अबकी आपकी बात कुछ तो समझ में आई । आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं ?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और मुह से कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीच में ही बोल उठा—"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद हो गई । आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो । यह संवाद खूब जोर से भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ता ने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा । आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवन में थोड़ा-सा उपयोग है; बिल्कुल न हो, ऐसा नहीं है । खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं ?"

"अब कोई नई चीज सीखने का हौसला नहीं है और तिसपर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नहीं, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत नहीं नहीं ।"

"माना, इस कारण सीखने में कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आने की क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हूं, नही ही आयगा । पर मान लीजिये, बड़ी मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है । इसलिए मुझसे यह नही होगा, यही समझिये ।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखाने को तैयार हैं, वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं ?"

"हां, जरूर कर सकता हूं, लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे । लिखते रहने का काम भी है झंझटी, फिर भी उसके करने में कोई आपत्ति नहीं है ।" यह बातचीत यहीं समाप्त हो गई । नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की हमें जरूरत नहीं ।

शिक्षकों की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है । शिक्षण यानी—

किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य;
कोई नई काम की चीज सीखने में स्वभावत: असमर्थ हो गया है;
क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ;
'सिर्फ शिक्षण' का घमंड रखनेवाला, पुस्तकों में गड़ा हुआ आलसी जीव;

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवन से तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दा, शिक्षण और शिक्षक के मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य !

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं, पर यह है वाणी का व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है ? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य, अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवन की ज्योति जगाकर दिखाते हैं। गीता में बुद्धि-ग्राह्य जीवन का अर्थ अतींद्रिय जीवन बतलाया है। जो इंद्रियो का गुलाम है, जो देहासक्ति का मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोडकर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गई, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है, और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षण पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ में मृतजीवी हैं। इन सिर्फ शिक्षण पर जीनेवालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्ध के काम में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में, जो मृत पूर्वजों की स्मृति को जिंदा करता रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग !

शिक्षकों को पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तान की नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकों के बिना वह संभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियां मानी गई हैं : एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां हैं, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी है आत्माहुति देने की, आत्म-त्याग की शक्ति और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारण की शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियों के होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायगा। बाकी सब मृत—निर्जीव है, कोरा शिक्षण है।

ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने बड़ा आत्म-त्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्म-त्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्म-त्याग की शक्ति होगी, वहां आत्म-धारण की शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहे का करेगा! जो आत्मा अपनेको खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे! मतलब, आत्मत्याग की शक्ति में आत्म-धारण पहले से शामिल ही है। यह आत्म-धारण की शक्ति—'स्वधा', राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्म-त्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभास-मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को, अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को, अब स्वधा-संपादन की तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकों को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी किसानों पर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियों को भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। **गुरोः कर्मातिशेषेण**, इस वाक्य का अर्थ 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नहीं तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ लें तो गुरु की सेवा आखिर कितनी होगी! और उसके लिए कितने लड़कों को कितना काम करने को रहेगा! इसलिए 'गुरोः कर्म' करने के मानी हैं, गुरु के जीवन में जिम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरा पैदा हों, उन्हें गुरु से पूछे और

गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षण का स्वरूप है। इसीमें थोडा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यास के लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो, पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोड़ा समय उपासना के लिए देना पडता है। यही न्याय वेदाभ्यास, अथवा शिक्षण पर, लागू करना चाहिए। मतलब, जीवन की जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभीको शिक्षण का ही काम समझना चाहिए। साथ ही रोज एक-दो घंटे (Period) 'शिक्षण के निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षक का कर्त्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन में अपने-आप उसके आसपास शिक्षा की किरणे फैलेंगी और उन किरणों के प्रकाश से आसपास के वातावरण का काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वतःसिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षण पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने की फिक्र करनी चाहिए। शिक्षण की खबरदारी रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए केवल शिक्षण' की हवस रखने की जरूरत नहीं।

: १६ :

भिक्षा

मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार होते हैं :

१. भिक्षा, २. पेशा और ३. चोरी।

भिक्षा, अर्थात समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीर-धारण-भर को कम-से-कम लेना, और वह भी विवश होकर एवं उपकृत भावना से।

पेशा, अर्थात् समाज की विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी, अर्थात् समाज की कम-से-कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना, और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी, समाज से ज़्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-सरीखे वे 'इंतजामकार' पुलिस, सैनिक, हाकिम वगैरह सरकारी साथी-सहायक; इंतजाम के बाहर के वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरह उच्च उद्योगी और 'अव्यापारेषु व्यापार:' करनेवाले—ये सब तीसरे वर्ग में आते हैं।

मातृभूमि पर मेहनत करनेवाले किसान और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्ग में जाने के अभिलाषी हैं, जानेवाले नहीं। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पाने की इच्छा होते हुए भी तीसरे वर्ग की करतूत के कारण आज उनमें से बहुतों को उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निस्संदेह तीसरे वर्ग में दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्ग में दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोडे, सच्ची लगन के साधु पुरुष है जो बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं, और उन्हींके बल पर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं, पर उनका बल अद्भुत है।

"भिक्षावृत्ति का लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।"—जब समर्थ यह कहते हैं तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्ग को बढ़ाना है।

इसीको गीता में 'यज्ञ-शिष्ट अमृत-भोजन' कहा है और गीता का आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तान में बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थ के समय में भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्ति का जीर्णोद्धार करने की जरूरत समर्थ को क्यों जान पड़ी?

इसका जवाब भिक्षा की कल्पना में है। बावन लाख की भिक्षा का जो अर्थ है, वह तो चोरी का ही एक प्रकार है।

भिक्षा का मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना।

इतना भी न लिया होता पर शरीर-निर्वाह नहीं होता, इसलिए उतनेभर के लिए लेना पड़ता है, पर हक मानकर नहीं; समाज का मुझपर यह उपकार है, इस भावना से। भिक्षा में परावलंबन नहीं है, ईश्वरावलंबन है। समाज की सद्भावना पर श्रद्धा है, यथा-लाभ संतोष है, कर्त्तव्यपरायणता है, फल-निरपेक्ष-वृत्ति का प्रयत्न है।

लोक-सेवक के शरीर-रक्षण को एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक काम के लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकम का विनियोग उचित रीति से, हिसाब रखकर, इसी कार्य के लिए वह करता है। "मैं लोक-सेवक हूं, इसलिए मेरी शरीर-धारण-वृत्ति भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है। उस रकम का उपयोग मुझे उसी काम में करना चाहिए, उचित रूप से करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए और वह हिसाब लोगों की जांच के लिए खुला रहना चाहिए। अर्थात् सब तरह से एक पंच जैसे संचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावना से मुझे अपने शरीर की संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए।"—यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकों को कहते सुना जाता है—अपने पैसे को हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसे का हिसाब ठीक रक्खेंगे, लोगों को दिखायगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे। पर हमारे अपने पैसे का हिसाब ठीक रखने को हम बंधे नहीं हैं और दिखाने की तो बात ही नहीं। यदि सचाई से समाज-सेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'; वह भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा है? जैसे खादी के काम के लिए खादी का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया, उसी तरह तेरे शरीर के काम के लिए, तुझे उसका ज्ञाता समझकर पैसा दिया गया। खादी के लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीर के लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी-प्रचारक से पूछा गया, "तुम्हें कितने की जरूरत है ?"

"तीस रुपये महीने की।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतने की जरूरत क्यों है ?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियों को मदद देता हूं।"

"हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियों को इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादी के काम के लिए तुम्हें पैसे दिये गए, तो उसमें से राष्ट्रीय शिक्षण के काम में लगाओगे क्या ?"

"ऐसा तो नही किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीर का पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकम में से गरीब विद्यार्थियों को मदद देने में, जो दूसरा सामाजिक काम है. खर्च करने का क्या मतलब ?"

यह भी भिक्षावृत्ति का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्य को दान का अधिकार नहीं है। दान हो या भोग, दोनों का कर्त्ता 'मैं' ही हूं और भिक्षा में 'मैं' को ही जगह नहीं है। इसीसे दोनों को नहीं। न भोग में फंसो, न त्याग में पडो—यह भिक्षावृत्ति का सूत्र है। भिक्षावृत्ति के मानी हैं 'घर बड़ा करना', बड़ी जिम्मेदारी सिर पर लेना। भिक्षा गैर-जिम्मेदारी नहीं है।

भिक्षा मांगने के मानी है 'मांगना छोड़ देना'। बाइबिल में कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा।' उसका मतलब है, भगवान् से मांगो तो मिलेगा। पर समाज से ? 'मांगो मत, तो मिलेगा।'

'भिक्षा मांगना' ये शब्द विसंवादी है। कारण, भिक्षा के मानी ही हैं, न मांगना। 'भिक्षा मांगना' ये शब्द पुनरुक्त हैं। क्योंकि भिक्षा ही स्वतःसिद्ध मांगना है। भिक्षा मांगनी नहीं पड़ती। कर्त्तव्य की झोली में अधिकार पड़े ही हैं।

१३-७-४०

: १७ :

गांवों का काम

असहयोग-आंदोलन के समय से गांवों की ओर लोगों का ध्यान खिंचा है। गांवों का महत्त्व समझ में आने लगा है। कितने ही सेवक गांवों में काम भी करने लगे हैं और कुछ को उसमें कामयाबी भी हुई है, पर अधिकांश को सफलता नहीं मिली है।

इसके पहले सुशिक्षितों की दृष्टि गांवों की ओर गई ही न थी। पहले तो नजर परायों की ओर थी। इंग्लैंड की जनता को अनुकूल करना चाहिए, सरकार को परिस्थिति समझानी चाहिए, आदि। बाद को निगाह अपनों की ओर फिरी; पर शहरों की ओर, सुशिक्षितों की ओर। 'सुशिक्षितों में राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए' की बुनियाद पर सारा आन्दोलन चलता था। असहयोग के जमाने में गांवों की ओर नजर गई। आगे बढ़े तो रचनात्मक कार्यक्रम के आन्दोलन के गांवों में प्रवेश करने की, ग्रामवासी जनता की सेवा करने की प्रत्यक्ष प्रेरणा हुई और जो थोड़ा-बहुत नतीजा निकला दीखता है वह इस प्रेरणा का ही फल है। इतने वर्षों के लंबे अनुभव के बाद हमारे ध्यान में आया कि 'तेरा साईं तेरे पास, तू क्यों भटके संसार में ?' फिर भी काम की केवल शुरुआत होने के कारण बहुत-से स्थानों में गांव का काम निष्फल हुआ।

यह कोई नई बात नहीं है।। शुरू-शुरू में ऐसा होता ही है। इससे निराश होने की कोई वजह नही, और निराश होने की स्थिति है भी नहीं। कारण, कुछ स्थानों में गांवों के प्रयोग सफल भी हुए हैं। इसके सिवा जो प्रयोग असफल प्रतीत होते हैं, वे भी प्रतीत-भर होते हैं। पत्थर तोड़ने में पहली कुछ चोटें बेकार गई-सी जान पड़ती हैं, पर उनका नतीजा तो होता ही है। इस मिसाल में फोड़ा जाने वाला पत्थर गांव की जनता नहीं, वल्कि हमारे सुशिक्षितों का विमुख हृदय है।

अब कहीं हमारे मन में गांवों में जाने की बात उदित हुई है, लेकिन हम

गांवों में अपने शहरी ठाट-बाट के साथ जाना चाहते हैं, इससे हमारा काम जमता नहीं। गावों में ग्रामीण होकर जाना चाहिए। यह हमारी असफलता का मुख्य कारण है।

गांव में गया हुआ सुशिक्षित मनुष्य आज भी ग्रामीण तो नहीं ही बन पाया, पर आज वहां वह 'परोपकार' की हविस से जाता है। उसे गांववालों से खुद कुछ सीखना है, यह वह भूल जाता है।

उसे लगता है, 'ये बेचारे अज्ञान में लोटते पड़े हैं।' अपना घोर अज्ञान उसे नही दिखाई देता और खुद उसे क्या करना चाहिए, इसे बिसारकर वह लोगों से काम लेने के फेर में पड़ जाता है। इसकी वजह से वह ग्राम-जीवन से बिल्कुल अलग-सा हो जाता है।

१. अपनी सुशिक्षितपन की आदतें छोड़कर हमें गांव में जाना चाहिए।

२. गांववालों को शिक्षा देने की वृत्ति लेकर नहीं जाना चाहिए।

६. हम खुद काम में लगें।

ये तीन महत्त्वपूर्ण बातें हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

कई बार ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी गांव में जा बैठता है और किसी एक काम को, जिसे वह गांव की मदद के बिना कर सकता था, सारे गांवभर में हलचल मचाकर भी नहीं कर पाता। अपने काम का उसे पूरा हिसाब—क्षण-क्षण का—रखना चाहिए। गांव के आदमियों की निगाह में उद्योगी आदमी की इज्जत होती है। जो सुशिक्षित आदमी गांव में जाकर किसीको कुछ सिखाने का खयाल छोड़कर रात-दिन काम में मग्न रहेगा और अपने चरित्र की चौकसी करता रहेगा, वह अपने-आप गांव के लिए उपयोगी बन जायगा; और आकाश में जैसे तारे चंद्रमा के चारों ओर इकट्ठे रहते हैं वैसे ही लोग उसके चारों ओर जमा हो जायंगे। हिंदुस्तान की ग्रामवासी जनता कृतज्ञ है, गुण परखने की शक्ति उसमें भरपूर है।

ग्राम-संगठन का काम चरित्र-बल के अभाव में संभव नहीं है और गांव की जनता के चारित्र्य का बटखरा 'प्राथमिक' सद्गुणों में अवलंबित है और यही असली बटखरा है। प्राथमिक सद्गुणों से मतलब है नीति के मूलभूत

सद्‌गुण। उदाहरणार्थ आलस्य न होना, निभयता, प्रेम इत्यादि। दिखाऊ उपार्जित गुण वक्तृत्व, विद्वत्ता वगैरा गांव के लिए बहुत उपयोगी नहीं होते। गांव में काम करनेवाले में भक्ति की लगन होनी चाहिए, भाव होना चाहिए। यह प्राथमिक सद्‌गुणों का राजा है।

पर अपने लोगों की पवित्र भावना में अभी हम रमे ही नहीं। यह हमारी निष्फलता का बहुत ही बड़ा कारण है। गांव के लोगों के वहम, अंधविश्वास हममें न होने चाहिए। लेकिन उनमें जो कीमती भावनाएं हैं वे तो हममें होनी ही चाहिए। पर वे नहीं होतीं। भजन से हम भागते हैं। ईश्वर के नामोच्चारण से हमारे हृदय में भावना की बाढ़ आनी चाहिए, पर वह नहीं आती। ईश्वर, धर्म, संतों के बारे में पूरी कल्पना न रखनेवाले गंवारों में जो भक्ति-भाव होता है वह उनके संबंध में वास्तविक और यथार्थ ज्ञान रखनेवालों में उनसे सौ-गुना ज्यादा होना चाहिए। पर हमें ईश्वर अथवा साधु-संतों के संबंध में बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, भान भी नहीं होता; अगर हुआ तो विपरीत ज्ञान भरपूर होता है। इस वजह से जनता के हृदय से हमारा हृदय मिल नहीं सकता। अस्पृश्यता-सरीखी जो विपरीत भावनाएं धर्म के नाम से जनता में रूढ़ हो गई हैं, उन्हें निकाल डालने का उसीका प्रयत्न सफल होगा या उसीको प्रयत्न करना चाहिए जिसके हृदय में जनता के हृदय की पवित्र भावनाएं हिलोरें मारती हैं। जनता की योग्य भावनाएं, जिसमें नहीं हैं, वह जनता की अयोग्य भावनाएं कैसे निकाल सकेगा!

लोगों की भली भावनाओं में शामिल न हो सकना जैसे एक दोष है, वैसे ही दूसरे लोगों के शारीरिक परिचय की व्यर्थ इच्छा रखना भी दोष है और हमारे काम के लिए घातक है। किसी तरह लोगों से खूब जान-पहचान बढ़ाने की हविस से, इधर-उधर के काम में व्यर्थ हाथ डालने से काम बिगड़ता है। अति-परिचय की आकांक्षा से हमारा लोगों के प्रति आदर-भाव कम हो जाता है। लोगों के सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यवहारों पर बेमतलब ध्यान देने से हम उनकी सेवा नहीं कर सकते। सेवक को परिचय के बजाय आदर की ज्यादा जरूरत होती है। लोगों से परिचय कुछ कम हो और उनके लिए आदर अधिक, तो सेवक

के लिए यह ज्यादा अच्छा है।

लेकिन 'लोगों से खूब जान-पहचान होनी चाहिए' यह बात अच्छे-अच्छे सेवावृत्तिवालों के मुंह से भी सुनी जाती है, पर इसकी जड़ में अहंकार छिपा हुआ होता है। सेवक को,सेवावृत्ति की मर्यादा जाननी चाहिए। हमारे शरीर में कोई ऐसा पारस पत्थर तो नहीं चिपका हुआ है कि किसीका किसी तरह भी हमसे संबंध जुड़ा नहीं कि वह सोना हुआ। सेवा के निमित्त से लोगों से जितना परिचय होता हो, जरूर होना चाहिए। ढूंढ़-ढूंढ़कर परिचय के मौके निकालने की सेवक के लिए जरूरत नहीं है। सच्चे सेवक के पास सेवा अपने-आप हाजिर रहती है, उसे प्रसंग नहीं ढूंढ़ते फिरना पड़ता। शरीर से परिचय बढ़ाने और उसीके साथ मन से जनता के बारे में अनादर बढ़ाते जाने में कोई भी फायदा नहीं।

इसके सिवा हममें एक और दोष है—त्याग की प्रतीति। हमसे थोड़ा-बहुत त्याग होता है, लेकिन त्याग की प्रतीति त्याग को मार डालती है। त्याग करके हम किसीपर कोई अहसान नहीं करते। इसके सिवा हमारा त्याग शहर की निगाह से 'त्याग' माना भी जाय, तो गांव-गंवई के हिसाब से उसकी कोई बड़ी वकत नहीं। गांव में तो बहुत ही बड़े त्याग की अपेक्षा है। स्वयं गांव के लोग—चाहे मजबूरी का ही क्यों न हो—त्याग से ही रहते हैं। उस हिसाब से हमारा त्याग किसी गिनती में नहीं है। और फिर उसकी प्रतीति! इससे सेवा ठीक तरह नहीं हो सकती।

इन दोषों को निकाल देने का प्रयत्न करने पर फिर हमारा गांव का काम असफल न होगा।

: १८ :

अस्पृश्यता-निवारण का यज्ञ

अस्पृश्यता-निवारण की बात उठने पर कुछ लोग कहते हैं—"भई, ये बातें तो होने ही वाली हैं, समय का प्रवाह ही ऐसा है; इसके लिए इतना

: १६ :

ग्राजादी की लड़ाई की विधायक तैयारी

आजकल हिंदुस्तान में आजादी की लड़ाई की चर्चा चल रही है। कुछ लोग कहते हैं कि इस बार की लडाई आखिरी होगी और द्रष्टाओं की तो भविष्यवाणी है कि कई कारणों से स्वराज्य हमारी दृष्टि की ही नहीं, हाथ की भी पहुंच में आगया है।

अनेक कारणों की बदौलत स्वराज्य नजदीक चाहे आगया हो, पर 'स्वराज्य' विषय में मुख्य प्रश्न यह है कि 'स्व' के कारण वह कितना नजदीक आया ? स्व-राज्य अनेक कारणों से नहीं मिलता, वह तो अकेले 'स्व-कारण' से ही मिलता है।

उधर यूरोप में एक महायुद्ध हो रहा है। भेड़ियों का एक दल कहता है कि विरोधी दल के भेड़ियों द्वारा निगले गये मेमनों को—संभव हो तो जिंदा, नहीं तो कम-से-कम मरी हुई हालत में—छुड़ाने के लिए हमने यह महायुद्ध स्वीकार किया है। अबतक के आठ महीनों में तो भेड़िये का पेट फाड़कर पुराने मेमनों को बाहर निकालने के बजाय नित-नये मेमने गले के नीचे उतारने का ही सिलसिला जारी है। इधर विरोधी दल के भेड़ियों के पेट में पहले ही से पड़े हुए बड़े-बड़े मोटे-ताजे अधमरे मेमने इस आशा से मन के लड्डू खा रहे हैं कि भेड़ियों की इस झपटा-झपटी में हम अवश्य ही उगल दिये जायंगे।

'ईसप-नीति' की ऐसी एक कहानी है। उसका मतलब निकालने का भार ईसप को सौंपकर हम आगे बढ़ें। यूरोप की लड़ाई हिंसक साधनों से हिंसक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लड़ी जा रही है। हमारी लड़ाई अहिंसक साधनों से अहिंसक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होगी। इन दोनों में भारी अंतर होते हुए भी उस हिंसक लड़ाई से हम कई बातें सीख सकते हैं। लडाई के साधन चाहे जैसे क्यों न हों, आजकल का युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोग का एक

जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्न का फल विध्वंसक होता है और उद्देश्य भी विध्वसक होता है, तथापि वह प्रश्न प्राय: सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनी ने सत्तर लाख फौज तैयार की है। आठ करोड़ के राष्ट्र का इतनी बड़ी फौज तैयार करना, इतने बड़े पैमाने पर लड़ाई के हरबा-हथियार और साधन-सामग्री जुटाना, चुने हुए लोगों को फौज में भरती करने के बाद बाकी लोगों द्वारा राष्ट्रीय कारबार चलाना, संपत्ति की धारा अव्याहत गति से प्रवाहित रखने के लिए औद्योगिक योजनाएं यथासंभव अखंड रूप से जारी रखना, सब स्कूल-कालिज बंद कर देना, नित्य की जीवन-सामग्री के व्यक्तिगत मिल्कियत के अधिकार पर सरकारी कब्जा जमा लेना, जिस प्रकार विश्वरूप-दर्शन में आंख, कान, नाक, हाथ-पैर, सिर, मुंह अनंत होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, मानो उसी प्रकार सारे राष्ट्र का हृदय एक करना—यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतोमुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके संहार-प्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

लोग पूछते हैं—"गांधीजी लड़ाई की तैयारी करने को कहते हैं, मगर इससे रचनात्मक कार्यक्रम का संबंध क्यों जोड़ देते हैं? हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी और ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, गांव की सफाई तथा नई तालीम—यह सारा रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें लड़ाई का तत्त्व कहां है?" यह सवाल कौन लोग पूछते हैं? वे ही, जो यह मानते हैं कि हमें लड़ाई अहिंसक साधनों से ही करनी चाहिए। उनकी समझ में यह क्यों नहीं आता कि हिंसक लड़ाई के लिए भी अधिकांश में विधायक कार्यक्रम की ही जरूरत होती है। सिपाहियों के लिए बिस्कुट बनाने से लगाकर—नहीं-नहीं, खेतों में आलू बोने से लगाकर—पनडुब्बियों द्वारा दुश्मनों के जहाज डुबाये जाने तक सब-का-सब लड़ाई का एक अखंड कार्यक्रम होता है और उसके अंतिम अंश के सिवा शेष सारा प्राय: रचनात्मक ही होता है। इस विधायक कार्यक्रम पर ही उस अंतिम विनाशक कार्यक्रम की सफलता अवलंबित होती है। यह शुरूवाला अगर नदारद हो जाय तो वह पीछेवाला भी लापता हो जायगा। यह भेद

जानकर ही दुश्मन सामनेवाले पक्ष के विनाशक कार्यक्रम को बेकार कर देने के उद्देश्य से उसके इस विधायक कार्यक्रम की ही टांग तोड़ देने के फेर मे रहता है। जहां हिंसक लड़ाई का यह हाल है वहां अहिंसक लड़ाई तो विधायक कार्यक्रम के बिना हो ही कैसे सकती है? 'स्वराज्य' के मानी हैं 'सर्व-राज्य', अर्थात् हरेक का राज्य। इस प्रकार का स्वराज्य बिना सामुदायिक सहयोग के, बिना उत्पादक कार्यक्रम के, बिना सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासन के कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? कांग्रेस के तीस लाख सदस्य हैं। अगर वे राष्ट्र के लिए रोज आधा घंटा भी कातें तो भी कितना बड़ा संगठन होगा ? इसमें मुश्किल क्या है? वर्धा तहसील को ही लीजिये। इस तहसील में कांग्रेस के छः हजार सदस्य हैं। उनको अगर बीस टुकडियों में बांट दिया जाय तो हरेक टुकड़ी में तीन सौ सदस्य होंगे। हरेक टुकड़ी सालभर में तीन सौ सदस्यों को कातना सिखाने का इरादा कर ले तो कोई मुश्किल नहीं है। सबसे बड़ी बाधा है हमारी अश्रद्धा। "क्या लोग सीखने के लिए तैयार होंगे ?" "क्या सीखने पर भी कातते रहेंगे ?" "कताई का हिसाब रखेंगे?" "उसे कांग्रेस के पास भेजेंगे ?"—ऐसी अनेक शंकाएं हम किया करते हैं। इसके बदले हम काम शुरू कर दें तो एक-एक गांठ अनुभव के बाद खुलने लगेगी।

कम-से-कम वर्धा तहसील में इस कार्यक्रम को अमल में लाने की चेष्टा की जा सकती है। कांग्रेस-कमेटियों, चरखा-संघ, ग्राम-सुधार-केंद्र, आश्रमों तथा अन्य संस्थाओं और गांव के अनुभवी व्यक्तियों के सहयोग से यह काम हो सकता है। काम का बाकायदा हिसाब लिखा जाना चाहिए। समय-समय पर कातने की प्रगति की जानकारी भी लोगों को दी जानी चाहिए। कातना सिखाने के मानी यह हैं कि उसके साथ-साथ दूसरी कई बातें भी सिखाई जा सकती हैं और सिखाई जानी चाहिए। कार्यकर्त्ता इस सूचना पर विचार करें। बहुत मुश्किल नहीं मालूम होगी। लाभदायक होगी। करके देखिये !

७-५-४०

: २० :

सर्व-धर्म-समभाव

दो प्रश्न हैं :

(१) सर्वधर्म-समभाव का विकास करने के लिए क्या गांधी-सेवा-संघ की ओर से कुछ ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है जिनमें विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक विचार हो ?

(२) क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओं में भिन्न-भिन्न धर्मों के महापुरुषों के उत्सव मनाकर उन अवसरों पर उन धर्मों के विषय में ज्ञान देना वांछनीय नहीं है ?

१. अगर समभाव की दृष्टि से कोई ग्रंथ-लेखक पुस्तक तैयार करे और गांधी-सेवा-संघ उचित समझे तो ऐसी पुस्तक प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसंद नहीं है। सच बात तो यह है कि संसार में धर्मों के बीच जो विषम भाव है वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्ष में भी काफी विरोध बताया जाता है, लेकिन वह तो अखबारी चीज है। वास्तव में विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षों की संस्कृति ने हम लोगों में समभाव पैदा कर दिया है। देहात में अब भी वह नजर आता है। आजकल की नई प्रवृत्ति ने विरोध जरूर पैदा कर दिया है, पर वह धार्मिक नहीं है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्म का तो बहाना ले लिया जाता है और अखबारों में प्रकाशन द्वारा उसे महत्त्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशन का काम हम अपने हाथों में ले लें तो उन्हींके शस्त्र का उपयोग करेंगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्र में प्रतिपक्षी निपुण है, उसीका उपयोग करने से काम नहीं चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज और है, वह है सर्व-धर्म-सम-अभाव। अभाव बढ रहा है, नास्तिकता बढ़ रही है। नास्तिकता से मेरा संकेत तात्त्विक नास्तिकता की ओर नहीं है; तात्त्विक नास्तिकता से मैं डरता नहीं, पर लिखने से काम नहीं पार पड़ेगा। हम लिखें भी तो कितने

लोग पढ़ेंगे ? गंदा साहित्य पढ़नेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवन में हम जिन चीजों को उतार सकेंगे उन्हींका प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखाने को आये हुए तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नये लेखक की लिखी कोई ऐसी पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकाराम के अभंगों की तरह जनता में प्रवेश किया हो ? प्रकाशन प्रचार का एक साधन तो है, पर धार्मिक प्रचार में उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीज को हम अपने श्रद्धेय पुरुषों के मुंह से सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशन से विशेष लाभ की संभावना नहीं जान पड़ती।

२. जहां आश्रम है वहां सब धर्मों के प्रवर्त्तकों के विषय में भी अवसर पर चर्चा कर सकते हैं। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमी पर मैंने प्रसंगवशात् भाषण किये हैं, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया। जहां ऐसे उत्सव हो सकते हैं उनके होते रहने में कोई हर्ज नहीं है।
५-३-३६

: २१ :

स्वाध्याय की आवश्यकता

देहात में जानेवाले हमारे कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धा से, लेकिन उनका वह उत्साह अंत तक नहीं टिकता। देहात में काम करनेवाले एक भाई का खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाई का काम करता तो हूं, लेकिन पहले उसका जो असर गांववालों पर होता था वह अब नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको कहीं से तनख्वाह मिलती है, इसीलिए यह सफाई का काम करता है।" अंत में उस भाई ने पूछा है कि क्या अब इस काम को छोड़कर दूसरा काम हाथ में ले लिया जाय ?

यों कार्यकर्त्ताओं को अपने काम में शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं और यह

हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओं का नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओं की भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है—वह है स्वाध्याय का अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्द का जिस अर्थ में मैं उपयोग करता हूं, उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी है एक ऐसे विषय का अभ्यास जो सब विषयों और कार्यों का मूल है, जिसके ऊपर बाकी के सब विषयों का आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषय में दिनभर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कामों को उतने समय के लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थ के संसार में जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं, वे सभी इस परमार्थी कार्य में भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसार का एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होने की वजह से स्वार्थी संसार की झंझटों से मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समय के लिए संसार से अलग होने की आवश्यकता होती है वैसे ही इस काम से भी अलग होने की आवश्यकता है; क्योंकि वास्तव में वह काम केवल भावना का नहीं है, उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियों में भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषय में मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाश को तार्किक पृथक्करण से अलग-अलग कर सकते हैं, फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है; और जहां उच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते हैं, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धि से कोई मतलब नहीं है, सेवा की इच्छा है

और उसके लिए भावना का होना काफी है, तो वह ग़लत सोचता है। इस बुद्धि की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। विद्वानों को भी ऐसे स्वाध्याय की जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न? उसको तो स्वाध्याय की विशेष रूप से जरूरत है। इस विषय में बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीच में शहर में जाकर पुस्तकालय में जाना, मित्रों से मिलना आदि बातें ग्राम-सेवा के लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साह को लेकर फिर देहात में काम करने में अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साह का स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियों का अड्डा नहीं है।

उपनिषद् में एक कहानी है। एक राजा से किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्य में हैं। उसको खोजने के लिए राजा ने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालने के बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजा ने कहा, "अरे, ब्राह्मण को जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढो।" तब वे लोग जंगल में गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहर में कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है, कभी-कभी शहर में भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहां का वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्मा का पोषण-रक्षण आजकल शहरों में नहीं होता। देहात में निसर्ग के साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है वह उत्साह के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहर में निसर्ग से भेंट कहां! जंगल में तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं और जंगल के पास तो देहात ही होते हैं, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेने के लिए ग्रामसेवकों को शहर में आना पड़े, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनों के लिए देहात में जाकर कार्यकर्ताओं से मिलते रहें, तो अधिक अच्छा हो। असल में उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उस के चिन्तन के लिए कम-से-कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीर को देखने के लिए दूर जाता है, और वहां से उस को तस्वीर में जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है, लेकिन उसके दोष देखने के लिए

अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करने के लिए पास तो आना ही पड़ेगा, लेकिन कार्य को देखने के लिए खुद को अलग कर लेने की जरूरत भी है।

यही स्वाध्याय का उपयोग है। अपनेको और अपने कार्य को बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमें से उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धि की शुद्धि होती है।

: २२ :

दरिद्रों से तन्मयता

दो प्रश्न हैं :

(१) हममें से जो आजतक तो मध्यम वर्ग का जीवन बिताते आये हैं परंतु अब दरिद्र वर्ग से एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रम से अपने जीवन में परिवर्तन करें जिससे तीन-चार वर्ष में वे निश्चित रूप से उन दरिद्रों से एकरूप हो जायं ?

(२) मध्यम अथवा उच्च वर्ग के लोग दरिद्रों से अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकार का कोई नियम बनाना ठीक होगा कि सघ के सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्च में से हर १५ में से ४ रु० दरिद्रों के घर सीधे पहुँच जायं ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान् बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका क्यों न हो, समुद्र की ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्र तक नहीं पहुंच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो या गंगाजी का, दोनों की गति समुद्र की ओर है। दोनों निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी, उसकी ताकत कम होने के कारण, भले ही बीच में रुक जाय, और किसी छोटे वृक्ष

को जीवन प्रदान करने में उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य परंतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचने का भाग्य तो गंगा के समान महानदियों को ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ों और टीलों के समान हैं। यहा जिसकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक सब न भी पहुंच सके, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायं, उतने ही से सतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्न-गतिक—नम्र—बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षों में उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों को गरीब बना देने की कोई विधि नही है। हमें गरीबों की सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्ति-भर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षों से मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबों से एकरूप हो जाऊं; लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबों का जीवन व्यतीत करने में सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्ति के आनन्द की अपेक्षा प्रयत्न का आनन्द बढ़कर है।

शिव की उपासना करनी हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबों की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए, पर इसमें विवेक की जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवन की बुराइयों को भी अपनालें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं, वैसे मूर्खनारायण भी तो हैं! क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बनें? शिव बनने का मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके जैसा बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहात में किसान धूप में काम करते हैं। लोग कहते हैं, "बेचारे किसानों

को दिनभर धूप में काम करना पड़ता है।" अरे, धूप मे और खुले आकाश के नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है! क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूप में तो विटामिन काफी हैं। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू करदें। पर वे जो रात में मकानों को संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं, उनकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए। हम काफी कपड़े रक्खें। उनसे भी हम कहें कि रात में आकाश के नीचे सोओ और नक्षत्रों का वैभव लूटो। हम उनके प्रकाश का अनुकरण करें, उनके अंधकार का नहीं। उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कपड़े बना लें। उन्हें महीनों तरकारी नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता; क्या हम भी सागभाजी और दूध छोड़ दें! यह विचार ठीक नहीं है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायं? इसमें दया है, सहानुभूति भी है; लेकिन वह दया और सहानुभूति किस काम की जिसमें तारक बुद्धि का अभाव हो। सच्ची कृपा में तारण-शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजी ने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमें अपने जीवन की खराबियों को निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयों को दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है, जिसमें रस या उत्साह है; भोग या विलासिता को उसमें स्थान नहीं। हम दरिद्रों-जैसे बनें या पूर्ण जीवन की ओर बढ़ें। लोग कहते हैं, ऐसा करने से हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा। पर हमें इस बात का विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम-परायणता को छोड़ देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है। हमें दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता; इस बात का हमें दुःख हो, तो वह उचित ही है। यह दुःख-बीज तो हमारी हृदय-भूमि में रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। अगर किसी चमत्कार से कल ही हमें स्वराज्य मिल जाय तो उसमें कोई आनंद

नहीं। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्ति से तारक बुद्धि का प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्य के नजदीक पहुंचेंगे। जैसे नदियां समुद्र की ओर बहती हैं, उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबों की ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

: २३ :

तरणोपाय

वैधानिक आन्दोलन करना, जनता की शिकायतें सरकार के सामने रखना और मीठे-मीठे ढंग से उन शिकायतों का इलाज करा लेना और इतना करके संतोष मान लेना—शुरू में यही कांग्रेस का कार्यक्रम था। लेकिन न तो शिकायतें दूर होती थी, और न संतोष ही मिलता था। पुश्तभर के अनुभव के बाद कांग्रेस इस नतीजे पर पहुंची कि स्वराज के बिना चारा नहीं। यह अनुभव-संदेश तरुणों को सुनाकर पितामह दादाभाई निवृत्त होगये।

धुन के पक्के तरुण काम में जुट गये। गुप्त षड्यंत्र, सरकारी अहलकारों का खून और सरकार को डराकर स्वराज्य प्राप्त करने का अपनी दृष्टि से स्वावलंबी प्रयोग उन्होंने शुरू कर दिया। आंदोलन के लिए पैसे की जरूरत होती ही है। वह कहां से लाया जाय! यह मार्ग परावलंबी था। इसके अलावा अराजक तरुणों के लिए वह खुला भी नहीं था। युवकों ने डाका डालकर पैसे कमाने के स्वावलंबी मार्ग का अवलंबन किया। शुरू में इन डाकुओं की—जिनके घरों में डकैती हुई, उन लोगों ने तो नहीं, पर जो सुरक्षित थे, उन लोगों ने—थोड़ी-बहुत प्रशंसा भी की। इसलिए स्वार्थी डाकू भी उनके लिए इस अधिक सुसाध्य साधन का प्रयोग करने लगे। जो भजन-जैसी उज्ज्वल संस्था पर भी कब्जा कर सके, उनके लिए डकैती हस्तगत करना मुश्किल तो था ही नहीं। फलतः दोनों प्रकार की डकैतियों से जनता पीड़ित हुई। उधर सरकार ने भी दमन-नीति अख्तियार की। तरुणों के लिए जो सहानुभूति थी

उसका स्रोत सूखने लगा। इतने में समझदार अहिंसावादी आये। वे कहने लगे कि पुराना वैधानिक आन्दोलन का मार्ग जिस प्रकार निरर्थक था, उसी प्रकार यह गुप्त साजिशों का रास्ता भी बेकार है। इधर-उधर दो-चार खून करने से क्या फायदा! हिंसा भी कारगर होने के लिए संगठित होनी चाहिए। असंगठित, अव्यवस्थित लुक-छिपकर की हुई हिंसा किसी काम की नही। और संगठित हिंसा हमारे बस की बात नहीं है। इसलिए हमें अहिंसा से ही प्रतिकार करना चाहिए। गांधीजी हमें रास्ता दिखाने में समर्थ हैं। उनके मार्ग-दर्शन से लाभ उठाकर हमें जनता की प्रतिकार-शक्ति संगठित करनी चाहिए। जनता की शक्ति संगठित होने पर उसकी बदौलत संपूर्ण नहीं तो थोडी-बहुत सत्ता हमारे हाथों में अवश्य आयगी। यह सत्ता आने पर आगे का विचार कर लेंगे।

अवश्य ही, यह अहिंसा नीति-रूप में थी जो हमारे युवकों को भी गुप्त षड्यन्त्रों की असफलता के और दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी की सफलता के अनुभव के कारण कुछ-कुछ जंची। जो लोग अपनी परछाई तक से डरते थे उनको छोड़कर सारा-का-सारा राष्ट्र एकत्र होकर अहिंसक प्रतिकार के इस नये आन्दोलन में शामिल हुआ। गांधीजी की नैष्ठिक अहिंसा को जोड़ने-घटाने से जितनी शक्ति प्रकट हो सकी, उसी परिमाण में उसका परिणाम भी निकला और संगठित हिंसा की अव्यवहार्यता अन्वय-व्यतिरेक से सर्व-मान्य हुई।

इतने में यूरोप में महायुद्ध की आग भड़की। शौर्य, साधन-संपत्ति, संग-ठन, साहस आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध शक्तिशाली राष्ट्र पांच-पांच, दस-दस दिनों में अपनी स्वतन्त्रता गवा बैठे। बीस साल पहले वैभव के शिखर पर पहुंचा हुआ फ्रांस-जैसा राष्ट्र भी तीस लाख की फौज खड़ी कर, इंग्लैंड जैसे राष्ट्र का सहयोग प्राप्त कर, और शूरता की पराकाष्ठा कर, गुलाम से भी गुलाम हो गया। जिन हाथों ने पिछले महायुद्ध में फ्रांस को विजय प्राप्त करा दी, शरण-पत्र लिखने के लिए भी वही हाथ काम आये।

हमारी आंखें खुल गईं। असंगठित हिंसा तो बेकार साबित हो ही चुकी

थी। लेकिन कार्य-समिति कहती है कि अब यह स्पष्ट हो गया है कि चाहे जितने बड़े पैमाने पर की गई संगठित हिंसा भी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए बेकार है।

असंगठित हिंसा और सुसंगठित हिंसा—नहीं-नहीं, अतिसुसंगठिन हिंसा भी—दोनों या तीनों बेकार सिद्ध हो चुकी हैं। तब क्या किया जाय?

गांधीजी कहते हैं—"अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा दृढ़ करो!"

हम कहते हैं—"हम अभी तैयार नहीं हैं।"

"तो तैयारी करो!"

"अवसर बड़ा विकट है। नाजुक वक्त आगया है। हम दुर्बल मनुष्य हैं, इसलिए वैसी तैयारी की आज तुरंत गुंजाइश नहीं है।"

"तो फिर घड़ीभर के लिए स्वस्थ (शांत) रहो! मिल्टन कहता है, जो स्वस्थ (शांत) रहकर प्रतीक्षा करते हैं वे भी सेवा करते हैं।"

"हां, करते तो और कई लोग भी ऐसा ही हैं, लेकिन हमपर जिम्मेदारी है। हमें कुछ-न-कुछ हाथ-पैर हिलाने ही चाहिए।"

पानी में तैरनेवाला तर जाता है। पानी पर स्वस्थ (शांत) लेटनेवाला भी पानी की सतह पर रहता है। केवल हाथ-पैर हिलानेवाला तह में पहुंच जाता है। केवल 'हम कुछ-न-कुछ कर जायगे' से ही क्या होनेवाला है!

१-७-४०

: २४ :

व्यवहार में जीवन-वेतन

हर बात में मैं गणित के अनुसार चला हूं। शिक्षा-समिति (हिंदुस्तानी तालीमी संघ) के पाठ्यक्रम में कातने-धुनने की जो योजना मैंने दी है उसे देखकर किशोरलालभाई-जैसे चौकन्ने सज्जन ने भी कहा कि तुमने गति वगैरा का जो हिसाब रखा है उसपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

गणित का इस प्रकार प्रयोग करनेवाला होने पर भी मैं ऐसा मानता हूं कि कुछ चीज़ों के 'मूले कुठारघातः' करके उन्हें तोड़ डालना चाहिए । वहां 'धीरे-धीरे', 'क्रमशः' आदि शब्द-प्रयोग उपयुक्त नहीं होता । मैं अपने जीवन में ऐसा ही करता हूं । १६१६ में मैंने घर छोड़ा। यों तो घर की परिस्थिति कुछ ऐसी न थी कि मेरा वहां रहना असंभव हो जाय। मां तो मुझे ऐसी मिली थी कि जिसकी याद मुझे आज भी नित्य आती है । पिताजी अभी जीवित हैं। उनकी उद्योगशीलता, अभ्यास-वृत्ति, साफ-सुथरापन, सज्जनता आदि गुण सभीको अनुकरणीय लगेंगे । लेकिन यह सब होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि मैं अब इस घर में नहीं समा सकता । जब घर छोड़ा तब 'इंटरमीजिएट' में था । कितने ही मित्रों ने कहा—"दो ही साल और लगेंगे। बी० ए० करके डिग्री लेकर जाओ।" उन सबके लिए एक ही जवाब था कि "विचार करने का मेरा यह ढंग नहीं है।" घर छोडने के पहले भिन्न-भिन्न विषयों के सर्टिफिकेट लेकर चूल्हे के पास बैठ गया और तापते-तापते उन्हें जलाने लगा । मां ने पूछा, "क्या कर रहा है ?" मैंने कहा, "सर्टिफिकेट जला रहा हूं।" उसने पूछा, "क्यों ?" मैंने कहा "उनकी मुझे क्या जरूरत ?" मां ने कहा, "अरे, जरूरत न हो तो भी पड़े रहें तो क्या हर्ज है ? जलाता क्यों है ?" "पड़े रहें तो क्या हर्ज है ?" इन शब्दों की तह में यह भावना छिपी हुई है कि "आगे कभी उनका उपयोग करने की जरूरत पड़े तो ?" इस घटना की याद मुझे पारसाल आई । सरकार ने मैट्रिक-पास को मतदान का अधिकार दिया है। मुझे यह अधिकार मिल सकता है । लेकिन मेरे पास सर्टिफिकेट कहां है ? एकाध रुपया खर्च कर दरख्वास्त करूं तो शायद उसकी नकल मिल जाय; पर मैंने कहा कि "क्या मतलब उस सर्टिफिकेट से ? पैंतीस करोड़ लोगों में से तीन करोड़ को मतदान का अधिकार मिला है, बाकी बत्तीस करोड़ को नहीं मिला है । मैं उन्हींके साथ क्यों न रहूं ?"

मुझे मराठों के इतिहास की घटना याद आती है । गोह के कमंद की मदद से मराठे सिंहगढ़ पर चढ गये । लड़ाई में तानाजी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठों की सेना हिम्मत हारकर भागने लगी और जिस रस्से के

बल चढ़कर वह ऊपर आई थी, उसीके सहारे नीचे उतरने का इरादा करने लगी। तब तानाजी के छोटे भाई सूर्याजी ने उस रस्से को काट डाला और चिल्लाकर कहने लगा, "मराठो, भागते कहां हो? वह रस्सा तो मैंने पहले ही काट डाला है।" यह सुनते ही मराठों की फौज ने सोचा कि चाहे लड़ें या भागें, मरना तो निश्चित है। यह जानकर मराठा सेना ने फिर हिम्मत की और लड़ाई में जीतकर सिंहगढ़ फतह किया। यह जो 'रस्सा काट देने की नीति' है उसका उपयोग कहीं-कहीं करना ही पड़ता है। मेरे विचार इस ढंग के होने के कारण कुछ लोगों को वे अव्यवहार्य जान पड़ते हैं। वे मुझसे कहते हैं, "तुम्हारे विचार तो अच्छे हैं, लेकिन तुम्हें आज से सौ बरस बाद पैदा होना चाहिए था। आज का समाज तुम्हारे विचारों पर अमल नहीं करेगा।" इसके विपरीत कुछ लोगों को मेरे विचार पांच-सात सौ साल पिछड़े प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि साधु-संतों का साहित्य पढ़-पढ़कर इसका दिमाग उसीसे भर गया है। वर्तमान समाज के लिए इन विचारों का कोई उपाय नहीं।

जब मैं पवनार में गणपतराव के यहां रहता था तो उनके यहां की एक स्त्री मक्खन बेचने वर्धा आई। शाम तक उसे कोई गाहक न मिला, क्योंकि वर्धा के बुद्धिमान् लोगों ने भाव सस्ता करने का भी एक शास्त्र ढूंढ़ निकाला है। यथासंभव देर करके बाजार जाना चाहिए। उस वक्त चीजें सस्ती मिलती हैं। देहातवालों को लौटने की जल्दी रहती है, इसलिए वे औने-पौने अपनी चीजें बेच देते हैं। बिल्कुल शाम को एक भला आदमी आया। उस बेचारी ने दोपहर की अपेक्षा दो तीन आने कम ही भाव बताया। तो भी वह भला आदमी मोलमुलाई ही करता रहा। आखिर उस स्त्री ने सोचा कि अब पांच मील इसे ढोकर वापस ले जाने से अच्छा है 'जोही हाथ सोई साथ।' उसने आधे दाम में मक्खन बेच दिया।

आज खरीददार और विक्रेता इकट्ठे होते ही सोचने लगते हैं कि सामनेवाला मुझे फंसाने पर तुला है। अतः बेचनेवाला जो भी कीमत कहे, खरीददार उससे कुछ कम ही मे मांगेगा। माना जाता है कि जो कम-से-कम दाम में चीज ले आये, वह बड़ा होशियार है। लेकिन हम अबतक यह नहीं

समझ पाये हैं कि पैसे गंवाकर हृदय बचाने में भी कुछ चतुराई है। जबतक कम-से-कम पैसे देने में चतुराई मानी जाती है, तबतक गांधीजी की बात समझ में नहीं आ सकती और न अहिंसा का प्रचार ही हो सकता है।

तरकीबें सोची जा रही हैं कि कलकत्ते में जापानी बम बरसायें तो हम आत्मरक्षा किस तरह करें, लेकिन इनसे क्या होनेवाला है? बम तो बरसनेवाले ही हैं। आज न सही, दस साल बाद बरसेंगे। यदि एक ओर हम जापान का सस्ता माल खरीदकर उसे मदद करते रहेंगे और दूसरी ओर उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे तो वे बम कैसे टलेंगे? बम या युद्ध टालने का वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यकता की चीजें अपने आसपास तैयार करायें और उनके उचित दाम दें।

एक बार एक सभा में मैंने पूछा कि "हिन्दुस्तान की औसत आयु-मर्यादा इक्कीस साल और इंगलैंड की बयालीस साल है, तो बताइये इंग्लैंड का मनुष्य हिन्दुस्तानी की अपेक्षा कितने गुना ज्यादा जीता है?" छोटे-छोटे बालकों ने ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगों ने भी जबाब दिया कि "दुगुना जीता है।" मैंने उन सबको फेल कर दिया। मैंने कहा कि "इक्कीस दूने बयालीस होते हैं, यह सही है; लेकिन हरएक आदमी की उम्र के लड़कपन के पहले चौदह साल छोड़ देने चाहिए, क्योंकि उनसे समाज को कोई फायदा नही होता। ये चौदह साल यदि हम छोड़ दें तो हिन्दुस्तान का आदमी सात साल और इंग्लैंड का अट्ठाइस साल जीता है। यानी हिन्दुस्तान की अपेक्षा इंग्लैंड का मनुष्य दुगुना नहीं, बल्कि चौगुना जीता है।"

यही नियम मजदूरी में भी घटित होता है। समाज में यदि सभी लोग उद्योगी और परस्परावलंबी होते तो चीजों के भाव चाहे जो होने से या आठ आने की जगह दो आने मजदूरी होने से कोई फर्क न पड़ता। तेली का तेल जुलाहा खरीदता है, उसका कपड़ा तेली खरीदता है, दोनों किसान से अनाज खरीदते हैं, किसान दोनों से तेल या कपड़ा खरीदता है। उस दशा में हम अनाज का भाव रुपये का चार सेर समझें, या दस सेर समझें, क्या फर्क पड़ेगा? रोजाना मजदूरी दो आने कहें या आठ आने, क्या फर्क होगा? क्योंकि

जब सभी उद्योगी और परस्परावलंबी हैं तो एक चीज का जो भाव होगा उसी हिसाब से दूसरी चीजों के भाव भी लगाये जायंगे। महंगे दाम लगायंगे तो व्यवहार में बड़े-बडे सिक्के बरतने होंगे, और सस्ते दाम लगायंगे तो सस्ते सिक्कों की जरूरत होगी। महंगे भावों के लिए रुपये लेकर बाजार में जाना होगा। सस्ते भाव होंगे तो कौड़ियों से लेन-देन का व्यवहार हो सकेगा। लेकिन इससे कोई फर्क नही पड़ता। मगर आज समाज में एक ऐसा वर्ग है कि जो न तेल पेरता है, न कपड़ा बुनता है, न अनाज पैदा करता है और न दूसरा कोई उत्पादक श्रम करता है। अगर हम चीजों के दाम बढा दे तो एक सेर भंटे के बदले आज इस वर्ग की ओर से हमें चार पैसे मिलते होंगे, तो कल दो या चार आने मिलने लगेंगे। भाव या मजदूरी बढाने का यही लाभ या उपयोग है। लेकिन यह वर्ग हर हालत में बहुत छोटा ही रहेगा। इसलिए अगर हम सबकी मजदूरी आठ आने कर दें, तो वास्तव में वह चौगुनी न पड़कर डेढ़ गुनी या दुगुनी ही पड़ेगी।

लेकिन आज आठ आने मजदूरी के सिद्धांत को कोई ग्रहण ही नहीं करता। उसे स्वीकार करने का मतलब है कि हमें अपनी सारी जीवनोपयोगी चीजों के दाम मजदूरी के हिसाब से लगाने चाहिए। तब पता चलेगा कि ढाई-तीन सौ साल पहले का उस बेवकूफ तुकाराम का अर्थशास्त्र आज १९३८ या १९३९ के आधुनिकतम अर्थशास्त्र से मेल खाता है। हम एक ऐसी जमात बनाना चाहते हैं जो मजदूरी का उपर्युक्त सिद्धांत अमल में लाये। हम अगर एक घड़ा खरीदने जायं तो कुम्हारिन उसके दाम दो पैसे बतलायगी। हमें चाहिए कि हम घडा बनाने में लगा हुआ वक्त पूछकर उससे कहें कि "मां, मैं तुझे इस घड़े के दो आने दूंगा। क्योंकि इसके लिए तुझे इतने घंटे खर्च करने पड़े हैं और उन घंटों की इतनी मजदूरी के हिसाब से इतने दाम होते हैं।" आप दो आने देकर वह मटका खरीदेंगे तो मटकेवाली समझेगी कि यह कोई बेवकूफ आदमी जान पड़ता है। दूसरी बार अगर आप एक झाड़ू लेने जायंगे तो वह तुरंत उसके दाम छः आने बतलायगी। तब आप उससे सारा हिसाब पूछकर समझायंगे कि झाड़ू के दाम छः आने नहीं, बल्कि दो या

तीन आने हैं। तब वह स्त्री समझ जायगी कि यह आदमी बेवकूफ नहीं है, इसे अक्ल है और यह किसी-न-किसी हिसाब के अनुसार चलता है।

ठगा जाना एक बात है और विचारपूर्वक मौजूदा बाजार-भाव की अपेक्षा अधिक, लेकिन वस्तुतः उचित, कीमत देना बिल्कुल दूसरी बात है। उचित कीमत ठहराने के लिए हमें विभिन्न धंधों का अध्ययन करके या उन धंधों में पड़े हुए लोगों से प्रेम का संबंध कायम करके अलग-अलग चीजों का एक समय-पत्रक बनाना होगा। उतने समय की उचित मजदूरी तय करनी होगी और उसमें कच्चे माल की कीमत जोड़कर जो दाम आयें, उतनी उस चीज की कीमत समझनी चाहिए। यदि हम ऐसी कीमत नहीं देते तो अहिंसा का पालन नहीं करते।

अब, यह मजदूरी सब लोग आज नहीं देंगे। यदि मुमकिन हो तो हम पूरी मजदूरी का माल बेचनेवाली एक एजेंसी खोल सकते हैं। अगर वह सारा माल बिकवा दे तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता; लेकिन अगर वह मुमकिन न हो तो मजदूरों को आज की तरह उसी पुराने भाव में अपना माल बेचना पड़ेगा। ऐसी हालत में उनके सामने दो रास्ते है। एक तो यह कि वे कम दामों में अपना माल बेचने से इंकार करदें; लेकिन यह आज असंभव है। दूसरा रास्ता यह है कि मजदूरों में ऐसी भावना—हिसाबी वृत्ति का निर्माण हो कि वे कहें कि "इस चीज की उचित कीमत इतनी है। परंतु यह धनवान मनुष्य वह कीमत नहीं देता। तो जितनी कीमत उसने दी है उतनी जमा करके बाकी के पैसे मैंने उसे दान में दिये, ऐसा मैं मान लूंगा।" धनाढ्य लोग गरीबों को जो दें वही दान है, या केवल धनाढ्य ही दान कर सकते हैं—यह धारणा क्यों हो? जो लोग सदा दान दे रहे हैं उन्हें इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि वे दान दे रहे हैं।

पूरी मजदूरी के सिवाय समाजवाद या साम्यवाद का दूसरा कोई इलाज नहीं। इतना ही नहीं, वल्कि इतना रक्तपात इस देश में होगा जितना कि रूस या दूसरे किसी देश में न हुआ होगा। मैंने एक व्याख्यान में (पवनार की खादी-यात्रा में) साक्षात् महात्मा गांधी के सामने वेद का यह मंत्र—**मोघमन्न**

विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत् स तस्य' । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी—पढ़ा जो स्पष्ट शब्दो म कहता है कि "जो धनिक अपने आसपास के लोगों की पर्वाह न करते हुए धन इकट्ठा करता है वह धन प्राप्त करने के बदले अपना वध प्राप्त करना है ।" 'वध' और 'मृत्यु' में यद्यपि सायणाचार्य कोई भेद नहीं करते तथापि मेरी दृष्टि से उन दोनों का भेद अत्यत स्पष्ट है । इस मंत्र को आप समाजवाद का मंत्र कह सकते है । मजदूरों या श्रमजीवियों के तमाम प्रश्नों का पूरी मजदूरी ही एकमात्र अहिंसक हल है ।

अब मैं आज की खास बात पर आता हूं । ग्राम-सेवा मण्डल इस तहसील में खादी-उत्पत्ति का प्रयत्न ज्यादा जोरों से करनेवाला है । "जिस माल पर चरखा-संघ को कुछ नफा मिल जाता है, वह खासकर वैसा माल तैयार करना चाहता है । चरखा-संघ का काम कई वर्ष पहले से चल रहा है, इसलिए यद्यपि वह आज चार आने मजदूरी देने को तैयार है तो भी हम तो तीन आने देकर ही खादी बनवायंगे," आदि दलीलें देकर काम करना चाहते हैं । मैं कहता हूं कि चरखा-संघ सावली में तो मजदूरी 'कल्दार' में देता है, लेकिन निजाम राज्य में 'हाली' (निजाम राज्य का सिक्का) में देता है, उसका समर्थन या इसके पीछे जो विचारधारा है उसे मैं समझ सकता हूं । 'कल्दार' तीन आने में सावली में जितना सुख मिल सकता है उतना ही सुख 'हाली' तीन आने में मुगलाई (निजाम राज्य) में मिल सकता है, क्योंकि वहां गरीबी ज्यादा है । वह विचारधारा इस प्रकार की है । उसी विचारधारा के अनुसार सावली की अपेक्षा वर्धा में जीवन-निर्वाह अधिक महंगा है, इसलिए यहां सावली से ज्यादा मजदूरी देनी चाहिए । सावली में तीन आने देते हैं, इसलिए यहां भी तीन ही आने देते हैं, ऐसा कहने से काम न चलेगा ।

अगर हम ऐसा करेंगे तो फिर वही महमूद और फिर्दौसीवाला किस्सा चरितार्थ होगा । महमूद ने शाहनामे की प्रत्येक पंक्ति के लिए एक दीनार देने का वायदा किया । लेकिन जब उसने यह देखा कि फिर्दौसी का लिखा हुआ शाहनामा तो बड़ा भारी ग्रंथ है, तब इतने सोने के दीनार देने की उसकी हिम्मत न हुई । इसलिए उसने सोने के दीनारों की जगह चांदी के दीनार दिये ।

मैं इधर दस या बारह वर्ष से खादी के विषय में जिस तीव्रता से विचार और आचरण करता हूं, उतना बहुत ही थोड़े लोग करते होंगे। आज भी खादी का रहस्य कुछ लोगों की समझ में नहीं आया है। पिछली सभा में यहां का खादी-भंडार उठा देने के पक्ष में मैंने जो राय दी थी वह दूसरों की भिन्न राय होते हुए भी आजतक कायम है। उस वक्त एक दलील यह भी पेश की गई थी कि यदि हम यहां से खादी-भंडार उठा लेंगे तो खादीधारियों की संख्या बढ़ेगी नहीं, बल्कि कम हो जायगी। मैं कहता हूं कि खादीधारी कम होंगे या नहीं, यह आप क्यों देखते हैं? आपकी नीति सही है या नहीं, यह क्यों नहीं देखते? शिक्षा-समिति ने जो योजना बनाई है वह साल दो-साल में व्यवहार से लाई जायगी। तब वर्धा तहसील की दो लाख जनसंख्या में से स्कूल में जाने लायक दसवां हिस्सा, यानी बीस हजार लड़के, निकलेंगे। अगर ये लड़के तीन घंटे कातकर प्रौढ़ मनुष्य के काम का एक-तिहाई यानी करीब एक घंटे का काम करें तो भी बीस हजार लोगों को स्वावलंबी बना सकने भर खादी तैयार होगी। तजवीज यह है कि यह सारी खादी सरकार खरीदे। पर 'सरकार खरीदे' इन शब्दों का मतलब यही हो सकता है कि 'लोग खरीदें'। क्योंकि सरकार आखिर कितनी जगह की खादी खरीद सकती है? इसलिए अंत में तो उसे लोग ही खरीदेंगे। इसलिए स्वाभाविक रूप से बीस हजार खादीधारी होंगे। इस तरह, खादीधारी कम हो जायंगे, यह डर ठीक नहीं है।

खादी के पीछे जो सही विचारधारा है, उसे समझाने की जिम्मेदारी हमारी है। यह काम और कौन करेगा? इतने बड़े तामिलनाड प्रांत में चरखा-संघ के 'सूत-सदस्य' सिर्फ सात-आठ हैं। चरखा संघ के कर्मचारियों का इस गिनती में शुमार नहीं है। जहां यह हालत है, वहां खादी के विषय में कौन विचार करने जायगा? नियमित रूप से सूत कातनेवाले और सूत देने-वाले लोगों की जरूरत है। लोग कहते है कि हमें कातने के लिए फ़ुरसत नहीं। हम सूत कातना नहीं चाहते और मजदूरी के रूप में ज्यादा पैसा भी देना नहीं चाहते। फिर अहिंसा का प्रचार कैसे हो? राजाजी ने हाल ही में मद्रास-सरकार की ओर से खादी-प्रचार के लिए दो लाख रुपये दिये हैं। लेकिन

इतने से क्या होनेवाला है ? पहले की सरकार भी गृहोद्योग के नाम पर क्या ऐसी मदद किसी हालत में न देती ? आज सरकार चारों तरफ से परेशान की जा रही है। इधर जापान का डर है, उधर यूरोप में भीषण लड़ाई का डर है। ऐसी परिस्थिति में यह कौन कह सकता है कि हमें खुश करने के लिए पुरानी सरकार भी पैसे न देती ? लेकिन ऐसे पैसों से खादी का असली काम पूरा नहीं होने का।

खादी के पीछे जो विचारधारा है उसे समाज के सामने कार्य-रूप में उपस्थित करने की जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए ग्राम-सेवा-मंडल को मेरी यह सलाह है कि वह आठ घंटे की आठ आने मजदूरी देकर खादी बनवाये। कम-से-कम इतना तो करे कि जिस परिमाण में यहां (वर्धा) का जीवन-निर्वाह सावली से महंगा हो, उस परिमाण में ज्यादा मजदूरी देकर खादी बनवाये। इस खादी की खपत अगर न हो तो मैं खादीधारियों से साफ-साफ पूछूंगा कि आप पुतलीघर का कपड़ा क्यों नहीं पहनते ? वह भी स्वदेशी तो है। समाजवादियों के सिद्धान्त के अनुसार उसपर राष्ट्र का नियंत्रण हो, इतना काफी है। एकाध आदमी पूरा जीवित या पूरा मृत है, यह मैं समझ सकता हूं; लेकिन पौन जिन्दा और पाव मरा हुआ है, यह कथन मेरी समझ में नहीं आ सकता। या तो वह पूरा जिंदा होगा या मरा हुआ। इसलिए अगर खादी बरतना है तो उसके मूल में जो भावनाएं हैं, जो विचार है, उन सबको ग्रहण कर उसे धारण करना चाहिए। जो खादी को इस प्रकार अंगीकार करें वे ही दर-असल खादीधारी हैं। आजतक हम खादी शब्द की व्याख्या 'हाथ का कता और हाथ का बुना कपड़ा' इतनी ही करते आये हैं, अब उसमें 'पूरी मजदूरी देकर बनवाया हुआ' ये शब्द और जोड़ देने चाहिए।

*

: २५ :

श्रमजीविका

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं, 'रोटी के लिए मजदूरी', यह शब्द आपमें से कई लोगों ने नया ही सुना होगा, लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्सटाय ने इस शब्द का उपयोग किया है। उसने भी यह शब्द बांदरेसा नामक एक लेखक के निबंध से लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनिया के सामने रख दिया। मैंने यह विषय जान-बूझकर चुना है। शिक्षण-शास्त्र का अभ्यास करते हुए भी संभव है कि इस विषय का आपने कभी विचार न किया हो। इसलिए इसी विपय पर बोलने का मैंने निश्चय किया। इस विषय पर विचार ही नहीं, बल्कि वैसा ही आचरण करने की कोशिश भी मैं बीस साल से करता आ रहा हूं, क्योंकि जीवन में, और साथ-साथ शिक्षण में भी, मैं शरीर-श्रम को प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तान की आबादी पैंतीस करोड़ है और चीन की चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनों को मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़ तक हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनिया का सबसे बड़ा और महत्त्व का हिस्सा हो जाता है और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनिया में सबसे ज्यादा दुःखी, पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कों ने वृत्ति का जो आदर्श अपने सामने रक्खा था, उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया और बाहर के राष्ट्रों ने उस वृत्ति को कभी स्वीकार ही नहीं किया। मेरा मतलब यह कहने से है कि हिंदुस्तान में शरीर-श्रम को जीवन में प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो, कातने का हो, बढ़ई का हो, रसोई बनाने का हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दों में लिखी है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, पर अगर

उसने उस काम को अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्ति को संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरएक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्रचलित धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग का निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है, उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खाने को दिया। उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगर वर्ग में ज्ञान का पूरा अभाव हो गया। वह पशु के समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन काल में हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजों से मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। आश्चर्य करने का प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए! उन्हीं पूर्वजों की तो हम संतान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करने के सिवा हमारे हाथों में कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरों में ज्ञान का अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था, वह विचार-प्रवर्तक, तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था, वह ईमानदारी से अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान् का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत के काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणों को समेट लेते, तब उनको नमस्कार करके घर वापस आ जाता था। ब्राह्मण में और इस किसान में कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना

जाता था ।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेट में अटता था । यहां तक उनका अपरिग्रही आचरण था । आज की भाषा में कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले में कम-से-कम वेतन लेते थे । यह बात प्राचीन इतिहास से हम जान सकते हैं । लेकिन बाद में ऊंच-नीच का भेद पैदा हो गया । कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणी का और हर तरह की मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणी का माना गया । उसकी योग्यता कम, उसे खाने के लिए कम, और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था भी कम ।

प्राचीन काल में न्यायशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, वेदान्त-शास्त्र इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन का जिक्र हम सुनते हैं । गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि शास्त्रों की पाठशालाओं का जिक्र भी आता है । लेकिन उद्योगशाला का उल्लेख कहीं नहीं आया है । इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम धर्म के माननेवाले थे । इसलिए हरएक जाति का धंधा उस जाति के लोगों के घर-घर में चलता था और इस तरह हरएक घर उद्योगशाला था । कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घर में बच्चों को बचपन से ही उस धंधे की शिक्षा अपने पिता से मिल जाती थी । उसके लिए अलग प्रबंध करने की आवश्यकता न थी । लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिता का ही धंधा पुत्र को करना चाहिए और दूसरी ओर बाहर से आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे । मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयों से बातचीत करने का मौका मिल जाता है । मैं उनसे कहता हूं कि वर्णाश्रम धर्म लुप्त हो रहा है । इसका अगर आपको दु:ख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्म का तो पालन कीजिये । बुनकर से तो मैं कहूंगा कि अपने बाप का धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा, तो वर्णाश्रम धर्म कैसे जिंदा रह सकता है ? हमारी इस वृत्ति से उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई । इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रम को नीच मान लिया । जो आदमी कम-

से-कम परिश्रम करता है, वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान् और नीतिमान् माना जाता है ।

आज ही सुबह बातें हो रही थीं । किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं", तो दूसरे ने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है, तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं ।" इस कथन में एक दंश था । खेती और स्वच्छ धोती की अदावत है, इस धारणा में दंश है । जो अपनेको ऊपर की श्रेणीवाले समझते हैं, उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगले के पर-जैसे होते हैं; लेकिन उनका यह सफाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है । उनके शरीर की डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांच की तो बात छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरों के शरीर की जांच की जाय और दोनों परीक्षाओं की रिपोर्ट डाक्टर पेश करें और कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहर से । उसमें अपना मुह देख लीजिये । लेकिन अंदर से हमें मलने की जरूरत ही नहीं जान पड़ती । हमारे लिए अंदर की कीमत ही नही होती । हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है । हमें शंका होती है कि खेत की मिट्टी में काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है । लेकिन मिट्टी में या खेत में काम करनेवाले किसान के कपड़े पर जो मिट्टी का रंग लगता है, वह मैल नहीं है । सफेद कमीज के बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं । वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रंग होता है । रंग और मैल में काफी फर्क है । मैल में जन्तु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है । मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है । गीता में लिखा है, "पुण्यो गंधः पृथिव्यां च" । मिट्टी का शरीर है, मिट्टी में मिलनेवाला है; उसी मिट्टी का रंग किसान के कपडे पर है, तब वह मैला कैसे है ? लेकिन हमको तो बिल्कुल सफेद, कपास जितना सफेद होता है, उससे भी बढ़कर सफेद कपड़े पहनने की आदत पड़ गई है । मानो 'व्हाइट वाश' ही किया है । उसे हम साफ कहते हैं । हमारी भाषा ही विकृत हो गई है ।

अपनी उच्चारण-पद्धति पर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं, उसे हम अशुद्ध कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते है कि साधारण जनता जो बोली बोलती है, वही व्याकरण है। तुलसीदास ने रामायण आम लोगों के लिए लिखी है। वह जानते थे कि देहाती लोग 'स' 'ष' और 'श' के उच्चारण में फर्क नहीं करते। आम लोगों की जबान में लिखने के लिए उन्होंन रामायण में सब जगह 'स' ही लिखा। वह नम्र होगये। उनको तो आम लोगों को रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए; लेकिन आज के पढ़े-लिखे लोगों ने तो मजदूरों को बदनाम करने का ही निश्चय कर लिया है।

हममें से कोई गीता-पाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनषिद् कंठ कर लेता है, तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रम में हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो, उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है! भक्ति और उत्पत्ति का भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेदभगवान् में हम पढ़ते हैं—' विश्व की उत्पत्ति करनेवालों को कुछ कृति अर्पण करो! उसने विश्व की सृष्टि का रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो!" लेकिन हमारी साधु की कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेत में खोदने का काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूर के जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है; "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल यहां नही उठता। वह मजे में खा सकता है। ब्राह्मण को खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं। उसीको पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तान की संस्कृति इस हद तक गिर गई, इसी कारण से बाहर के लोगों ने इन ऊपरी लोगों को हटाकर हिन्दुस्तान को जीत लिया। बाहर के लोगों ने आक्रमण क्यों किया? परिश्रम से छुटकारा पाने के लिए। इसीलिए

उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रों की खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके, बचे हुए समय में मौज और आनंद करने की उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यंत्रों का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली, उसकी हुकूमत तभीतक चली, जबतक दूसरों के पास मशीन नहीं थी। मशीन से संपत्ति और सुख तभीतक मिला, जबतक दूसरों ने मशीन का उपयोग नहीं किया था। हरएक के पास मशीन आ जाने पर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरों की तरह हरएक अपने अलग-अलग पिंजड़े में पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरे को कैसे खा जाऊं। क्योंकि वह अपने हाथों से कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं—"हाथों से काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीब से छूट सकें तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सके तो तीन घंटे क्यो करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कला के लिए वक्त ही नहीं बचता।"

भर्तृहरि ने लिखा है—**साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाणहीनः**—"जो साहित्य, संगीत और कला से विहीन है वह बिना पुच्छ-विषाण (पूंछ और सींग) का पशु है।" मैं कहता हूं—ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कला-वाला पुच्छविषाणवाला पशु है। भर्तृहरि के लिखने का मतलब क्या था, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उसपर से मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडित ने लिखा है—**काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्**—"बुद्धिमान् लोगों का समय काव्य-शास्त्र-विनोद में कटता है।" मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खाने के लिए उनके दरवाजे पर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जाने की चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो! शरीर-श्रम को दुःख क्यों मान लिया है, यही मेरी समझ में नहीं आता। आनंद और सुख का जो साधन है उसीको कष्ट

माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान् से किसीने पूछा, "दुनिया में सबसे अधिक धनवान् कौन है ?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेन्द्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है; लेकिन दूध भी हजम करने की ताकत जिसमें नहीं है, उसको उस संपत्ति से क्या लाभ ? और पाचनेन्द्रिय कैसे मजबूत होती हैं ? काव्य-शास्त्र से तो 'कालो गच्छति'; उससे पाचनेन्द्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेन्द्रिय तो व्यायाम से, परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनिट का निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिट्स ऐक्सरसाइज"। ऐसे व्यायाम से दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी, इसकी चिंता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगों ने व्यायाम का शास्त्र भी हिंसक बना रक्खा है। तीन मिनिट में एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से-जल्दी उससे निपटकर काव्य-शास्त्र में कैसे लग जायं, यही फिक्र है। थोड़े ही समय में एकदम व्यायाम करने की जो पद्धति है उससे स्नायु मसल्स (मांसपेशियां) बनती हैं, नसें नहीं बनतीं। और अमरवेल जिस प्रकार पेड़ को खा जाती है, वैसे ही मसल्स आरोग्य को खा जाती हैं। नसें आरोग्य को बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पाचनेन्द्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिन-भर हवा लेने की यह तकलीफ क्यों उठायें, दो घंटे में ही दिन-भर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक तो लगा लेते हैं; लेकिन आंखें न बिगड़े, इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहर के लोगों का आक्रमण हुआ है—इन सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का

विचार करना है।

हमने शिक्षण की जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है; क्योंकि हम जानते हैं कि शरीर के साथ मन का संबंध है। आजकल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारों को खुद अपना काम-क्रोध जीतने का तरीका मालूम नहीं होता। मन के बारे में इधर-उधर की किताबें पढ़-पढ़कर दो-चार बातें कर सकते हैं। चौदह साल के बाद मनुष्य के मन में एकाएक परिवर्तन होता है इसलिए सोलह साल तक लड़कों की पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धांत एक मानसशास्त्री ने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मन में परिवर्तन होने का भी कोई पर्व होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊंचा होगया हो, ऐसा नहीं होता। तो फिर मन में ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है?" बाद में मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह साल के बाद ज़रा तेजी से बढ़ती हैं और मन का शरीर के साथ संबंध होने से दिमाग भी उसी हिसाब से तेजी से विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृति में, एक ही कोटि में आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आजाते थे जो मेरे विचारों से मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्य का जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है, वैसा उसके लेखों में नहीं दीखता। उसका चरित्र बाद में मुझे पढ़ने को मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइल को सिर के दर्द की बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोष का कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समय का उसका लेखन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्र में तो मन-शुद्धि के लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्र का भी आधार वही है। शरीर-वृद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कों की मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिंदा मनुष्य का धर्म है। जिसे दिन-भर में एक ही दफा भूख लगती है, सभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान् का संदेश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौका कैसे मिलता? सामने यह खंभा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कों से परिश्रम लेना है तो शिक्षक को भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लास में झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं। शिक्षक को हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लास में पहले आगए तो वे झाड़ू लगा लें, कभी शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगाने के काम को हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षक भला वह कैसे करें! हम लड़कों को झाड़ू लगाने का भी काम देंगे, तो शिक्षक की दृष्टि से जो परिश्रम लड़कों से कराना है वह शिक्षक को पहले सीख लेना चाहिए और लड़कों के साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां वहां आई थीं, तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझाने के बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगाने का काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरएक चीज शिक्षक की दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए। एक आदमी ने मुझसे कहा, "गांधीजी ने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा, "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी महात्मा ने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिन्दुस्तान में गोपालकृष्ण की जो इतनी

प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालन ने उन्हें दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनिया की हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूप में घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आगया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें जमीन में गहरी पहुंची हैं और वहां से उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अदर से पानी और ऊपर से धूप, दोनों की कृपा से यह सुन्दर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदर से भक्ति का पानी और बाहर से तपश्चर्या की धूप मिले तो हम भी पेड़ों जैसे-हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगों के लिए भगवान् का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताब पढ़ने से ज्ञान मिलता है, यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढते हैं वही ठीक लगता है। एक भाई मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवाद की किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बाद में गांधी-सिद्धान्त की पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोद में उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजे के लिए पहली ठीक थी और चार के लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढने से हमारा दिमाग स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तबसे स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान-शरीफ में एक संवाद आया है कि मुहम्मदसाहब से कुछ विद्वान् लोगों ने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैगंबर कैसे बन गये?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उनमें से फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है?" यह तो एक

जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि, "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगों को ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं?" हमारे सामने की सृष्टि ज्ञान से भरी है। हम उसकी तह तक नहीं पहुंचते, इसलिए उसमें जो आनंद भरा है, वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का असली मातृत्व उस रसोई में ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चों को प्रेम से खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है? रसोई का काम यदि माता के हाथों से ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करने का यह मौका कोई माता छोड़ने के लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियों पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हूं। मैं उनका बोझ हलका करना चाहता हूं, इसीलिए हमने आश्रम में रसोई का काम मुख्यत: पुरुषों से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रम से घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लड़कों से मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाब के फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदने के हैं।" मैं कहता हूं, बिल्कुल ठीक। लेकिन वह गुलाब का फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो ज़रा देखो। वह पूर्णरूप से स्वावलंबी है। जमीन से सब सत्त्व चूस लेता है, खुली हवा में अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चों को भी वैसा ही रक्खो। मैं यह पसंद करता हूं। उनसे पूछकर ही देखो कि फूल को पानी देने में, चंद्र-कला को घटती-बढ़ती देखने में आनंद आता है, या किताबों में और व्याकरण के नियम घोटते रहने में? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ साल तक के लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालों की राय है कि वहां का

शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षा को एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहर में २ से ५॥ तक, और रात को फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घटे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्या पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे! अगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षक ने ठीक पढ़ाया है। इस तरह ९-९ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोकप्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातने की बात कहूं तो कहते हैं, "यह लड़कों को हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहां बड़े काम से बचने की फिक्र में हों वहां लड़कों को काम देने की बात भला कौन सोचे!

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया; लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यों?" मेरा जवाब यह है कि "लड़कों को तो जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है? किसीसे अगर कहा जाय कि "चक्की तो पीसो, लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो," तो वह पूछेगा, "फिर यह नाहक चक्की घुमाने का मतलब? "तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाएं और छाती मजबूत बनाने के लिए? ऐसे उद्योग में क्या कुछ आनंद आ सकता है! वह तो बेकार की मेहनत हो जायगी। अतः उत्पादन में ही आनंद है।"

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रम की महिमा को हम समझें। प्राइमरी स्कूलों में हम उद्योग के आधार पर शिक्षण न देंगे तो शिक्षा को अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गांववाले कहते हैं कि "लड़का स्कूल में पढ़ने जाता है तो उसमें काम के प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें?" लेकिन हमारी पाठशालाओं में अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां-बाप खुशी से अपने लड़के को स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है, यह भी देखने जायंगे। आज तो लड़के की क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखने के लिए भी मां-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस ही नहीं मिलता।

उद्योग के पढ़ाई में दाखिल हो जाने के बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गांववालों के पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गांव वालों के पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायगा। स्कूल के बगीचे में अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गांववालों से पूछेगा। फिर वे बतायंगे कि इस-इस किस्म की खाद डालो, खाद खराब होने से पपीते में कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि हम कृषि-कालेज में पढ़े हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है, हम उसे व्यवहार में नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गांववालों का सहयोग चाहते हैं, उनके ज्ञान से अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूल में उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोग से उस ज्ञान में सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकों में प्रेम, आनंद और श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधार पर बनाई गई है।

: २६ :

ब्रह्मचर्य की कल्पना

यों तो हर धर्म में मनुष्य-समाज के लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्म में ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ ही 'भगवान् का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्म में पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियों ने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे भी दूसरे धर्मों में पाये जाते हैं। लेकिन हिंदूधर्म ने विशिष्ट आचार के लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मों में नहीं देख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिंदू-धर्म की विशेषता है। अंग्रेजी में ब्रह्मचर्य के लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषा में शब्द नहीं है, इसका मतलब यह नहीं कि उन लोगों में कोई संयमी हुआ ही

नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे । वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं, लेकिन ब्रह्मचर्याश्रम की वह कल्पना उन धर्मों में नहीं है जो हिंदू धर्म में पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य के जीवन को आरंभ में अच्छी खाद मिले । जैसे वृक्ष को जब वह छोटा होता है तब खाद की अधिक आवश्यकता रहती है; वड़ा हो जाने के बाद खाद देने से जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देने से होता है । यही मनुष्य-जीवन का हाल है। यह खाद अगर अंत तक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरंभ-काल में तो वह वहुत आवश्यक है। हम बच्चों को दूध देते है। उन्हें वह अंत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है; लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से कम बचपन में तो मिलना ही चाहिए । शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के आरंभ-काल में अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीज का स्वाद जीवन-भर लेते थे, उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने वच्चों को भी मिले, इस दया-दृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की । लेकिन आज मैं उस आश्रम के विषय में नहीं बोलूंगा । शास्त्र का आधार भी मुझे नहीं लेना है । अनुभव से बाहर के शब्दों का मुझे व्यसन नहीं

अनुभव से मैं इस निर्णय पर आया हूं कि आजीवन पवित्र जीवन बिताने की दृष्टि से कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्य की अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती । 'दाउ शैल्ट नाट स्टील' आज मेरे काम नहीं आयगा। 'सत्यं वद' इस तरह की 'पॉज़िटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्य के काम में आती है। विषय-वासना मत रखो, यह ब्रह्मचर्य का 'नेगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियों की शक्ति आत्मा की सेवा में खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना । अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देह के सहारे दुनिया की सेवा करूं, उसके ही काम में अपनी सब शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई । विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन आसान हो जाता

है। ब्रह्म शब्द से डरिये नहीं। मान लीजिये, एक आदमी अपने बच्चे की सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवा में सबकुछ अर्पण कर दूंगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजी को 'जागिये रघुनाथ कुंवर' कहकर जगाते थे वैसे ही वह उस लड़के को जगाता है, तो उस लड़के की भक्ति से भी वह आदमी ब्रह्मचर्य-पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीने की आदत थी। सौभाग्य से उनके एक लड़का हुआ। तब उनके मन में विचार आया कि मुझे बीड़ी का व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय, मेरा उदाहरण लड़के के लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करने के लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देना चाहिए। और तबसे उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देश-सेवा की कल्पना उसके मन में आती तो वह संपूर्ण ब्रह्मचर्य का आसानी से पालन कर सकते। देश की सेवा कोई ब्रह्म भाव से करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसमें उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे, लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चे की सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवा की रिपोर्ट मांगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी। आर्य-समाज के सेक्रेटरी से कोई रिपोर्ट मांगे तो सौ पन्ने की लंबी रिपोर्ट दे देंगे, लेकिन माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्य में देगी कि "मैंने तो लड़के की कुछ भी सेवा नहीं की।" भला माता की रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माता के हृदय में बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले में उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करने में उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं, लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत् कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभी तक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इंद्रियों का निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायंगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन किसी बृहत् कल्पना के लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग'

ाहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या
ों कहिये कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्म पितामह के सामने एक कल्पना
ग्रागई कि पिता के संतोप के लिए मुझे संयम करना है। बस, पिता का संतोष
ही उनका ब्रह्म होगया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे
ब्रह्मचारी पाश्चात्यों में भी हुए हैं। एक साइंटिस्ट की बात कहते हैं कि वह
रात-दिन प्रयोग में मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोग में
लगा रहता है और उसकी सेवा करने के लिए कोई नहीं है, यह देखकर
वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाई के पास रही और उसकी सेवा करती रही।
उस बहन के लिए 'बंधु-सेवा' ही ब्रह्म-सेवा हो गई। देह के बाहर जाकर कोई
भी कल्पना ढूंढ़िये। अगर किसीने हिंदुस्तान के गरीब लोगों को भोजन देने की
कल्पना अपने सामने रक्खी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा।
वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह गरीब जनता का है।
'जनता की सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही
ब्रह्मचर्य है। हरएक काम में उसे गरीबों का ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता
होगा तो उसे पीते वक्त उसके मन में विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल
हूं इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है, पर गरीबों को दूध कहां मिलता है!
लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके
बाद फौरन ही वह गरीबों की सेवा करने के लिए दौड़ जायगा। बस, यही
ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करने में अगर हम मग्न हो जायं तो उस दशा में विषय-
वासना कहां से रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी।
रसोई में कभी-कभी नमक भूल से दुबारा पड़ जाता था। लेकिन चित्त में
मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन
करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है,
ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि
'बचपन से वेदाध्ययन करो!' मैंने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद
देश की सेवा करता रहा। वहां भी इंद्रिय-निग्रह की आवश्यकता थी। लेकिन
बचपन में इंद्रिय-निग्रह का अभ्यास होगया था, इसलिए बाद में मुझे वह

आज से ठीक एक महीने बाद, २६ जनवरी को, हमें स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा करनी है। आजतक की प्रतिज्ञा अधिक स्पष्ट भाषा में दुहरानी है। करीब दस वर्ष से हर साल हम उसे दुहराते हैं। इतनी बड़ी पुनरावृत्ति का क्या प्रयोजन है, यह आप लोगों को समझाने के लिए मैं उस प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूं।

हम कहते हैं कि अब स्वराज्य की लड़ाई नजदीक आ रही है, लेकिन यह गलत है। 'लड़ाई करीब है' कहने का मतलब यह होता है कि आज लड़ाई जारी नहीं है। यह बात सही नहीं है। हमारी लड़ाई तो निरंतर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लड़ाई का रूप एक नदी के समान है, वह निरंतर बहती ही रहती है। फिर भी, उसके प्रवाह में गरमियों में और बरसात में फर्क होता है। जाड़ों में हम नदी का असली रूप देख पाते हैं किन्तु वह बहती तो अखंड रहती है। उसी प्रकार हमारी लड़ाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी नित्य जारी है। हम कार्यकर्त्ताओं की यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लड़ाई में ही लगे हुए हैं।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नहीं लड़ रहे थे और अब लड़नेवाले हैं उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लड़ाई के लिए क्या तैयारी करें? वे सोचते हैं कि अब जेल में जाना पड़ेगा, इसलिए अपनी आदतें बदलनी चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हूं कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है। हम लड़ाई की आदतें डाल चुके हैं। अब उन आदतों के बदलने का क्या मतलब है? अब क्या 'बिना लड़ाई की' आदतें डालनी होंगी? हमें निरंतर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है।

इस साल स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा में कुछ नई बातें जोड़ दी गई हैं और उन बातों के साथ उस प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार करने के लिए कहा गया है। लेकिन जहां श्रद्धा न हो, वहां निरी दुहरौनी से क्या होगा? मुझे एक कहानी याद आती है। एक था साधु; उसने अपने चेले से कहा कि "राम-नाम जपने से मनुष्य हरएक संकट से पार हो सकता है।" उसके वाक्य में शिष्य को श्रद्धा तो थी, लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं था कि राम-नाम चाहे जिस

संकट से उसे तार देगा। एक बार उसे नदी पार करनी थी। वह बेचारा अर्धश्रद्धालु राम-नाम रटते हुए नदी पार करने लगा। जैसे-तैसे गले तक पानी में गया और वहां से गोते खाता हुआ बड़ी मुश्किल से वापस आया। गुरु से कहने लगा, "लगातार नामस्मरण किया, लेकिन पानी कम नहीं हुआ, सब अकारथ गया।" गुरु बोला, "अनेक वार नामस्मरण किया, इसीलिए अकारथ गया। अगर नामस्मरण में तुझे श्रद्धा थी तो एक बार किया हुआ नामस्मरण तुझे काफी क्यों नहीं लगा? श्रद्धा कम थी इसीलिए तूने बार-बार नामस्मरण किया और इसीलिए गोते खाये।" स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा एक बार मनोयोगपूर्वक करनेवाला सचमुच निश्चयी है, यह हम मान सकते हैं। लेकिन अगर वह हर साल प्रतिज्ञा करने लगे—इस साल नंबर एक की प्रतिज्ञा, अगले साल नंबर दो की प्रतिज्ञा, तीसरे साल नंबर तीन की प्रतिज्ञा, इस तरह प्रतिज्ञाएं करने लगे—तो यह शक होने लगेगा कि इस प्रतिज्ञा का कोई अर्थ भी है या नहीं। केवल मौखिक पुनरुच्चार से प्रतिज्ञा दृढ़ नहीं होती।

लेकिन इस साल की प्रतिज्ञा महज दुहराने के लिए नहीं है। उसमें महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है। हमारी गुलामी के अनेक कारण हैं। अंग्रेजी राज्य पर हम कई आक्षेप कर सकते हैं, लेकिन सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि अंग्रेजी राज्य की बदौलत हमें फाकाकशी की देन मिली। आप अगर लोगों से पूछेंगे कि "आपकी स्वराज्य की परिभाषा क्या है," तो वे इस प्रकार जवाब देंगे, "आप कहते हैं कि आठ प्रांतों में कांग्रेस का राज्य स्थापित हो गया। कांग्रेस का उस तरह का राज अगर ग्यारह-के-ग्यारहों प्रांतों में हो जाय, और अबतक जो अधिकार नहीं मिले थे वे भी सब मिल जायं, मगर हमारी फाकाकशी ज्यों-की-त्यों बनी रहे, तो हम तो यही कहेंगे कि यह स्वराज्य नहीं है। यही हमारी परिभाषा है।" परावलंबन की जगह स्वावलंबन प्राप्त हो जाय, मगर भूखों मरना बना ही रहे, तो केवल भारत की ही जनता नहीं, बल्कि भारत की जनता की जैसी शोचनीय दशा में रहनेवाली संसार की किसी भी देश की जनता कहेगी कि, हम यह स्वावलंबी फाकाकशी नहीं चाहते। न हम स्वावलंबी उपवास के कायल हैं, न परावलंबी उपवास के। हम तो भूखों

मरना ही नहीं चाहते। हमें फाकाकशी ही नहीं चाहिए, फिर उसका विशेषण कुछ भी क्यों न हो।

कुछ वक्ता जोश में आकर कह देते हैं कि "गुलामी में चाहे जितना खाने को मिले, तो भी हमें गुलामी नहीं चाहिए, स्वतंत्रता चाहिए। फिर, स्वतंत्रता में हमारी चाहे जितनी भी बुरी हालत हो, भूखों भी क्यों न मरना पड़े।" लेकिन उन्हीं वक्ताओं से अगर आप यह पूछें कि "अगर स्वराज्य में रेलगाड़ियां न हों तो!" तब वे कहने लगते हैं कि "ऐसा स्वराज्य किस काम का?" उनसे पूछिये कि "रेलगाडीवाली गुलामी की अपेक्षा बिना रेलगाड़ीवाली स्वतंत्रता क्या अच्छी नहीं?" लेकिन बात उनके गले नहीं उतरेगी। "स्वराज्य की कमी सुराज्य से पूरी नहीं हो सकती," यह कहनेवाले बिना रेलवाले स्वराज्य की कल्पना से भी घबराते हैं। तब बतलाइये कि अगर भूखों मरने की कल्पना से साधारण आदमी घबराने लगे तो क्या आश्चर्य!

यहां मुझे कोंकण की कातकरी नामक जाति के एक रिवाज की याद आती है। कातकरी अपनी जाति के मरे हुए आदमी से कहता है, "देख, अगले जनम में बामन बनेगा तो रट-रटकर मरेगा, अमुक बनेगा तो अमुक काम कर-करके मरेगा, लेकिन अगर कातकरी बनेगा तो वन का राजा बनेगा।" वह गांव की संस्कारवान् परतंत्रता नहीं चाहता, उसे जंगल की संस्कारहीन स्वतंत्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहों की कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि "मुझे न शहर की यह शान चाहिए और न यह पराधी-नता।" अगर जनता की भी यही हालत होती तो हमें सर्वत्र स्वतंत्रता ही दिखाई देती। स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद-काल से चली आई है—

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।

इस वेद-वचन में स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा व्यक्त की गई है। 'व्यचिष्ठ' का अर्थ है अत्यंत व्यापक, जिसमें सबको मतदान का अधिकार हो, और 'बहुपाय्य' से मतलब है—जिसकी बहुसंख्या अल्पसंख्या की रक्षा के लिए सावधान है, ऐसे स्वराज्य के लिए हम कोशिश कर रहे हैं—यह उस प्रतिज्ञा का अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषि के जमाने से पंडित जवाहरलाल के इस जमाने

तक वही स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा विद्यमान है। वेद की प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते हैं, ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचन का प्रयोग है।

सारांश यह कि हम अपने जोशीले व्याख्यानों या कविताओं में स्वराज्य की जो व्याख्या करते हैं वह आम जनता के गले नहीं उतरती है। जिसमें अन्न-जल का इंतजाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नहीं चाहती। उसे नैमित्तिक उपवासों का अभ्यास है। एकादशी, शिवरात्रि के दिन वह व्रत रखती है, लेकिन रोज का भूखों मरना वह सहन नहीं कर सकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह लीजिये, लेकिन इस मानवीय पशु को पेटभर अन्न चाहिए। समाजवादियों और साम्यवादियों के कथन में यही तथ्यांश (सत्य) है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम फाकाकशी नहीं चाहते। हमें भरपेट अन्न चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहें, कर्तव्य कहें या और किसी नाम से पुकारें। भर-पेट खाने की स्वतंत्रता हमें चाहिए।

हिंदुस्तान में इस प्रकार की स्वतंत्रता स्थापित हो, यह हमारा प्रधान विचार है। मैं स्वराज्य के विषय में विचार क्यों करता हूं? इसलिए कि हिंदुस्तान में स्वराज्य के बारे में विचार न करना महापाप है। स्वराज्य का सवाल फाकाकशी से मुक्त होने का सवाल है। जैसाकि तिलक महाराज कहते थे, 'वह दाल-रोटी का सवाल' है।

कोई-कोई पूछते है कि अहिंसा से स्वराज्य कैसे मिलेगा? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करें तो वह स्वराज्य-प्राप्ति तक खत्म नहीं होगी। इसलिए मैं इस फेर में नहीं पड़ता। वर्तमान यूरोप का चित्र अहिंसा का पदार्थ-पाठ है। अहिंसा के अभाव से क्या होता है, इसका पता मौजूदा यूरोप को देखने से चलता है। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आज कच्चे खाये जा रहे हैं। आजकल तो सभी काम बिजली के बटन की तेजी से होते हैं। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे, अब तड़ाक-फड़ाक मर जाते हैं। पंद्रह दिन में पूरे-के-पूरे राष्ट्र गायब हो जाते हैं। पहले ऐसी बातें न किसीने देखी थीं, न सुनी थीं। आज तो मानो बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद हो जाता है। चीन का कितना बड़ा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमें पता ही नहीं। भविष्य में जब नया नक्शा तैयार होगा तब

हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रों की इतनी तैयारी करने पर भी आखिर चीन की क्या हालत हुई? फिर हिंदुस्तान-जैसा गलितकलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रों से स्वराज्य कब पा सकता है? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अत्रि के जमाने से शुरू ही है। क्या उसी तरह अनत काल तक कोशिश ही करते रहें? आज तो सब कोई लाठी में ही विश्वास करते हैं।

कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि "तुम नये विचार नहीं पढ़ते। आधुनिक विचारों के साथ परिचय नही बढाते।" सुनता हूं कि ये विचार यूरोप से जहाज में आते हैं और बंबई के बंदर पर लगते हैं। मगर उधर से जो कुछ आता है वह सब अच्छा होता है, ऐसा तो अनुभव नही है। उधर से इन्फ्लु-एंजा की हवा आई जिससे साठ लाख आदमी चल बसे। विचारों की हवा के ये झकोरे बराए-मेहरबानी बंद कीजिये। हम शिक्षा लेने के लिए किस पाठ-शाला में जायं, यह भी तो सोचने की बात है। जिस शिक्षक की पाठशाला में पांच सौ छड़ियां और सिर्फ दो ही चार पुस्तकें हों उसकी पाठशाला में भी क्या हम जायंगे? यूरोप के लोग बहुत-सी पुस्तकें लिखते हैं। उनके पीछे खर्च भी बहुत करते हैं, यह मै जानता हूं; लेकिन साथ-साथ मै यह भी तो देखता हू कि वे फौज पर पुस्तकों से कितना गुना ज्यादा खर्च करते हैं। हमें विचार भी उसीसे ग्रहण करना चाहिए, जिसका उस विचार में विश्वास हो। शंकरा-चार्य-जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते हैं; क्योंकि उसकी तो यह प्रतिज्ञा है कि, "मैं विचार ही दूंगा।" उससे पूछिये कि "अगर मेरी समझ में न आये तो?" तो वह यही जवाब देगा कि "मैं फिर समझाऊंगा।" "और फिर समझ में न आये तो?" "दुबारा समझाऊंगा", "और फिर भी न आया तो?" "फिर समझाऊंगा, समझाता ही जाऊंगा। अंत तक विचार से ही समझाऊंगा," जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शंकराचार्य से विचार सीखने को मैं तैयार हूं। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तकें भी मैं खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तक पढ़ो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझ में न आया तो?" तो वह जवाब देता है, "पिटोगे।" जिसका विचारों की अपेक्षा छड़ी में अधिक

विश्वास है उससे विचार कैसे लें !

यूरोप की पद्धति का अनुसरण करना हिंदुस्तान के खून में ही नहीं है। कहा जाता है कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तानियों के हथियार छीन लिये, यह बड़ा नैतिक अपराध किया है। मैं भी यह मानता हूं। जबर्दस्ती समूचे राष्ट्र के हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मैं अपने दिल में सोचता हूं कि इन मुट्ठीभर लोगों ने उस समय के पच्चीस करोड़ लोगों के हथियार छीन कैसे लिये ? इन पच्चीस करोड़ के हाथ क्या घास खाने गये थे ? उनके हथियार मांगते ही इन्होंने दे कैसे दिये ?" इसका एक ही कारण हो सकता है। वे हथियार हम लोगों के जीवन के अंग नहीं थे। अगर हमारे जीवन के अग होते, तो वे छीने नहीं जाते। तुकाराम ने एक भले आदमी का ज़िक्र किया है। उसके एक हाथ में ढाल और दूसरे हाथ में तलवार थी। बेचारे के दोनों हाथ उलझे हुए थे, इसलिए वह कोई बहादुरी का काम नहीं कर सकता था। वही न्याय तो यहां पर भी घटित नहीं करना है न ? इसलिए हमारे हथियार छीन लिये गए। इसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हिंदुस्तान के लोगों के स्वभाव में हथियार नहीं थे। कुछ फौजी जातियां थीं। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उनपर जंग चढ़ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि हिंदुस्तान के लोग बहादुर नहीं थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारों पर दारमदार नहीं था। हिंदुस्तान के सारे इतिहास में यह आरोप किसीने नहीं किया कि यहां के लोग शूरवीर नहीं हैं। सिकंदर को सारी धरती नरम लगी, लेकिन हिंदुस्तान में उसने खासी ठोकर खाई। जहां-जहां ऊंट जा सकता था, वहां-वहां मुसलमान मजे में चले गये। जहां खजूर और रेत थी वहां उनका ऊंट बढ़ता चला गया, लेकिन हिंदुस्तान में प्रवेश पाने में उन्हें बीस साल लगे। हिंदुस्तान बहादुर नहीं था, इसका इतिहास में कोई सबूत नहीं है।

लेकिन हमारी संस्कृति की एक मर्यादा निश्चित थी। इसीलिए हमने

दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण कभी नहीं किया। किसी-न-किसी कारण से हमारी संस्कृति अहिंसक रही। तभी तो हमारी पैंतीस करोड़ जनता है। यूरोपीय राष्ट्र दो या चार करोड़ ही की बात कर सकते हैं, यहां पैंतीस करोड़ हैं।

इसका यह कारण है कि हिंसा का सिद्धान्त टूटा-फूटा और अहिंसा का सिद्धांत साबित है। यूरोप की हालत कांच के प्याले-जैसी है। जमीन पर पटकते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आप ज़रा एकाध कांच का प्याला जमीन पर पटककर तमाशा देखिये। यूरोपीय राष्ट्रों के नक्शे के समान छोटे-बड़े टुकड़े हो जायंगे। लेकिन हम लोगों ने अपना पानी पीने का साबित प्याला बड़ी हिफाजत से रखा है। कोई सज्जन बम्बई जाते हैं, वहां किराये पर एक कमरा ले लेते है। अकेले एक मियां और अकेली एक बीवी—यह जनाब का परिवार कहलाने लगता है। वही हाल यूरोपीय राष्ट्रों का है। यूरोप हमें सिखाता है कि अगर हम अहिंसा का मार्ग अपनायंगे, तभी एक राष्ट्र की हैसियत से जी सकेंगे। यह बात हमारी जनता बड़ी जल्दी समझ जाती है। लेकिन हम शिक्षितों के गले वह अबतक नही उतरती, क्योंकि हम पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजों के मानस-पुत्र जो ठहरे! अंग्रेजों का हमपर वरद हस्त है। उन्होंने हमारे दिमागों पर जादू कर दिया है। इसीलिए तो पूंजी का कहीं ठिकाना न होते हुए भी हम बड़े पैमाने पर उत्पादन की लम्बी-लम्बी बातें किया करते हैं। हैसियत चरखा खरीदने की भी नहीं, पर बात करते हैं पुतलीघर खोलने की।

अंग्रेजी राज में हमारी आम जनता का यह नुकसान हुआ है कि वह भूखों मरने लगी है और शिक्षित वर्ग का नुकसान इस बुद्धि-पारतंत्र्य के रूप में हुआ है। हम उनकी तीन करोड़ की किताबें खरीदते हैं। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**—कहकर, हाथ जोड़कर उन पुस्तकों को पढते हैं और तीन करोड़ रुपये गुरुदक्षिणा में देते हैं। उन्होंने हमारी बुद्धि स्व-तंत्र—याने अपने तंत्र (वश) में कर ली है। हमसे कहा जाता है कि उनसे शिक्षा लें। क्या शिक्षा लें? बहुत बड़े पैमाने पर हत्या करने की? क्या वह भी बड़े पैमाने

पर उत्पादन का ही एक रूप समझा जाय ? हम उससे क्या सीखें ? समाज-शास्त्र सीखें ? जिन लोगों ने पैंतीस करोड़ जनता को एक में बांध रखा वे समाजशास्त्र जानते हैं या वे, जो दो-दो, तीन-तीन करोड़ के नन्हें-नन्हें राष्ट्र बनाकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं ? कहा जाता है कि किसी जमाने में फ्रांस में एक क्रांति हुई और उससे स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता के सिद्धांत उत्पन्न हुए। उससे कितने ही पहले ये मुट्ठीभर पारसी इस देश में आये और हमने उनकी रक्षा की। तो क्या हम बंधुता जानते ही न थे ? ऐ यूरोप, तेरे पास ऐसा क्या है कि हम तुझसे बंधुता का पाठ पढ़ें ? तूने हमको लूटा; क्या यही तेरी बधुता का सबूत समझा जाय !

याद रखिये कि अगर आप हिंसा के फेर में पड़े तो इस देश के यूरोप के समान छोटे-छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे, बल्कि हमारी खास परिस्थिति के कारण टुकड़े भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

हमारी स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा के तीन भाग हैं। पहला—**स्वतंत्रता की आवश्यकता क्यों है**; दूसरा—**स्वतंत्रता जिस मार्ग से प्राप्त करनी है उस मार्ग में श्रद्धा**; और तीसरा—**हमारी साधन-सामग्री** अर्थात् **रचनात्मक कार्यक्रम**। अबतक दो भागों का विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रम पर आता हूं।

रचनात्मक कार्यक्रम में हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, ग्राम-सेवा और खादी आदि का समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिल से और लगन से काम करें। लोग कहते हैं, "तुम रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देते हो; लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते हैं, अंबेडकर का क्या कहना है, वह भी तो सुनो। उसे सुनकर गुस्सा आता है।" अंबेडकर कहते हैं कि "इन लोगों ने पूना का समझौता किया और इन्हीं बदमाशों ने उसे तोड़ दिया।" हम कहते हैं, "हमने ईमानदारी से उस समझौते पर अमल करने की कोशिश की।" पर ज़रा वस्तुस्थिति तो देखिये। जनता में क्या हो रहा है? दूर की बात जाने दीजिये। सेवाग्राम और पौनार को

ही ले लीजिये। पौनार में कातने के लिए जो लड़के आते हैं उनमें कुछ हरिजन लड़के भी हैं। उनमें एक हरिजन लड़के से मैंने कहा, "तू खाना पकाना जानता है ?" उसने कहा, "नहीं।" मैंने कहा, "हमारे यहां रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देंगे।" वह हमारे यहां रसोई बनाने आने लगा। मैं पौनार के कुछ लोगों को न्यौता देने लगा। शुरू में जो दस-पांच लोग आये वे ही आये। अब कोई नहीं आता। मैं वहां गाय के दूध से घी बनाता हूं और मठ्ठा मुफ्त में बांटता हूं। लेकिन मुफ्त का मट्ठा लेने के लिए भी कोई नहीं आता। यह हाल है !

अच्छा, हम कार्यकर्ता लोग भी लगन से काम करते हों, सो बात भी नहीं है। किसी कार्यकर्ता से कहा जाय कि एक हरिजन लड़के को बिल्कुल अपने निज के बेटे के समान अपने परिवार में रक्खो, तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्री को पसंद नही है, मेरी मां तो मानेगी ही नहीं। 'स्त्री को पसंद नहीं है, मां मानती नहीं है', यह सब सही; लेकिन इसका परिणाम क्या होता है ? यही कि हम हरिजनों को दूर रखते हैं। इसलिए अबेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकार की क्यों न हो, हरिजनों में वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे ? "इसे पसंद नहीं है, वह मानता नहीं है", इन बातों का मूल्य हमारे नजदीक हरिजनों को अपनाने से भी अधिक है। हम कहते हैं, हम हरिजनों को अपने घर में नहीं रख सकते, हम उनके घर भोजन नहीं कर सकते। इस तरह हृदय से हृदय कैसे मिलेगा ?

समाजवादी कहता है, "तुम यह अस्पृश्यता-निवारण का झंझट ही छोड़ो। गरीबी और भूख के असल सवाल को लो।" मैं कहता हूं, "भाई, तुम्हारी युक्ति बड़ी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करने को भी तैयार हूं। लेकिन भाई मेरे, वह काम नहीं आयगी। हिंदुस्तान से ज्यादा कंगाल लोग दुनिया में और कहीं हैं ? लेकिन मेरा मुफ्त दिया हुआ मट्ठा भी सवर्ण लोग लेने को तैयार नहीं हैं। यह सवाल तुम्हारी तदबीर से हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चली है। रेल में, स्कूलों में

लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमें तो बहुत-कुछ करामात अंग्रेजों की है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनता ने छुआछूत मानना छोड़ दिया है।"

अश्वमेधसहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

(हजारों अश्वमेधों के साथ सत्य तोला गया; पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है) हरिजनों के लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हें छात्रवृत्तियां देना, ये सब बाह्य कृतियां अश्वमेधों के समान हैं। ऐसे हजारों अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा एक हरिजन लड़का अपने परिवार में रखना—जिस प्रेम से हम अपने कुटुंबियों से पेश आते हैं उसी प्रेम से उसके साथ व्यवहार करना—यह सत्य अधिक महत्त्व रखता है। हमें उसके सुख-दुःख में शामिल होना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थिति को ओढ़ लेना चाहिए।

हिंदू-मुस्लिम-एकता के सवाल से भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जा रहा है। आज जो कुछ भी हो रहा है मैं उसे खिलवाड़ ही कहूंगा। एक कहना है, "तुम आपस में लड़ते हो, इसीलिए तुम्हें स्वराज्य नहीं मिलेगा।" दूसरा जबाब देता है "स्वराज्य नहीं है, इसीलिए तो आपस में लड़ाई होती है।"—ऐसा तमाशा चल रहा है! ज़रा देहात में जाकर देखिये। वहां हिंदू-मुसलमानों में वैर नहीं है। सच पूछिये तो उनमें वैर है ही नहीं। कुछ महत्त्वाकांक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को लड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। इन लोगों के तीन विशेषण ध्यान में रखिये—पढ़े-लिखे, महत्त्वाकांक्षी और बेकार। ये लोग हिंदू-मुसलमानों को वरबस उभाड़कर उनके झगड़ों का खिलौने की तरह उपयोग करते हैं।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहां-कहीं ऐसी दुर्घटना हो जाय, वहां जाकर हम अपने प्राण दे दें। यह उपाय देहात में काम नहीं आ सकता, क्योंकि दंगे वहां से शुरू नहीं होते। पढ़े-लिखे, बेकार और महत्त्वाकांक्षी लोग जहां दंगे कराते हैं—या उनके शब्दों में कहें तो 'व्यवस्था कराते हैं'—वहां जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापकों ने दुनिया को परेशान कर डाला है। उनसे इतनी विनय है

कि "भाई यह धंधा छोड़ो और खुद व्यवस्थित बनो !" लेकिन वे मानेंगे नहीं। इसलिए यही एक इलाज है कि जहां दंगा हो जाय वहां जाकर हम अपना सिर फुड़वा लें। सौ-दो सौ शांतिपरायण लोगों को ऐसे मौकों पर अपने सिर फुड़वा लेने चाहिए।

इन झगड़ों का कोई हद्दो-हिसाब ही नहीं। ये सिर्फ हिंदू-मुसलमानों में ही नहीं हैं। पहले ब्राह्मणेतर दल था ही; अब सुनते हैं कोई मराठा-लीग भी स्थापित हुई है। भुखमरे टुकड़खोरों का बाजार गर्म है। मैं जब बड़ौदा में रहता था तो वहां का एक पारसी किसी त्यौहार के उपलक्ष में कभी-कभी भिखारियों को अन्न बांटता था। उन टुकड़ों के लिए वे आपस में लड़ते थे। वही हाल यहां है। सरकार से जो टुकड़े मिलेंगे उन्हें ये बीच में ही हड़पना चाहते हैं। हमारे तत्त्वज्ञान में मृत्यु के डर को स्थान नहीं है। और अब रोटियों के अभाव में भूखों मरने का भी अभ्यास हमें होगया है। इसलिए जहां दंगा हो रहा हो वहां हमें शांतिपूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए। इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए। इतना काफी है। हम लोगों की ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढ़ाये पूजा नहीं होती। नारियल की जगह मौसंबी, नारंगी, आम आदि चढ़ाने से काम नहीं चलता। नारियल और सिंदूर ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूं कि आप अपना सिर फुड़वाकर अपना रक्त चढ़ायें तो पूजा पूरी हो जायगी। लेन-देन के समझौते से इन झगड़ों का निपटारा नहीं होगा। न 'लेन' चाहिए, न 'देन'। मुस्लिम लीग से तसफिया कैसे किया जाय ?

खादी के विषय में भी लोग इसी तरह पूछते हैं। कहते हैं कि "खादी तो ठीक है; लेकिन यह कातने की बला आप क्यों लगा रहे हैं ?" मैं कहता हूं कि, "क्या करूं ? अगर कातने के लिए न कहूं तो क्या सेवंई बनाने के लिए कहूं ? आप तो कहते हैं न कि लोग भूखों मर रहे हैं। ऐसी हालत में कुछ-न-कुछ निर्माण करने की क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है। इसीको आज अनुशासन कहते हैं। नहीं तो स्वराज्य के आंदोलन में आप जनता को किस तरह शामिल करेंगे ?" अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुझ-जैसा बातूनी

आदमी ही स्वराज्य का आंदोलन कर सकेगा—अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखों-करोड़ों लोगों को स्वराज्य के आंदोलन में सीधे शामिल होने की कोई तरकीब निकालिये। जो तरकीब निकालें वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहज में समझ लें। अखबारवालों को जब कोई बात खास तौर पर लोगों के सामने रखनी होती है तो वे एक-एक इंच बड़े टाइपों में शीर्षक देते हैं। यूरोप में तो अब सिर्फ शीर्षकों से ही काम नहीं चलता, चित्र देने पड़ते हैं। वहां के मजदूर चित्रों पर से समाचार भांप जाते हैं। तात्पर्य यह कि स्थूल, स्पष्ट और लोगों का ध्यान आकृष्ट करने-लायक चीज होनी चाहिए। तभी कुछ काम होगा। खादी और चरखा लोगों की समझ में आसानी से आनेवाला अहिंसक आंदोलन का प्रत्यक्ष चिह्न है। उससे सारे राष्ट्र में स्फूर्ति की आग फैल सकती है। अगर इस इमारत में कल आग लग जाय तो इसके जलने में कितनी देर लगेगी? आप ऐसा हिसाब न लगाइये कि इसमें पहली चिनगारी लगने में चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलने में कितने साल लगेंगे। ऐसा ऊटपटांग त्रैराशिक आप न करें। इस इमारत में आग लगने में चालीस साल भले ही लग गये हों, लेकिन उसके खाक होने के लिए एक घंटा काफी है। इसलिए तोते के समान क्रांति के सिद्धांत रटने-रटाने से काम नहीं चलेगा। सिर्फ तोता पढ़ाने से राष्ट्र प्रज्वलित नहीं होते।

'इन्कलाब जिंदाबाद' इत्यादि कई तरह के मंत्र अच्छे-अच्छे और पढ़े-लिखे आदमी भी रास्ते पर उच्च स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ते हैं। पढ़े-लिखे लाग कहते हैं कि पुराने लोगों को मंत्रों में बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगों का विश्वास मंत्रों में पुराने आदमियों की बनिस्बत कहीं अधिक है। स्वराज्य का मंत्र आप जनता तक कैसे पहुंचायंगे? इसका एक ही रास्ता है—मंत्र के साथ तंत्र भी चाहिए। जनता के साथ संपर्क कायम रखने के लिए मंत्र की द्योतक किसी-न-किसी बाह्य कृति की जरूरत है। इतिहास में इस बात के सबूत विद्यमान हैं कि ऐसे तंत्रयुक्त मंत्र से समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

आज हम क्या मांग रहे हैं? हम आज ही स्वतंत्रता नहीं मांगते। यह

'सौदा' हम आज नहीं कर रहे हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आप अपनी नेकनीयती साबित करने के लिए इतना तो करें कि हमारी विधान-परिषद् की मांग मंजूर कर लें।

यह विधान-परिषद् क्या है? आप सिर्फ शब्दों से न चिपके रहिये। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा, पर शब्दों के जंजाल से तो आज ही छुटकारा पाइये। विधान-परिषद् की मांग का इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्ति को मतदान का अधिकार हो और, वह किस तरह का राज्य चाहता है, यह तय करने की उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नहीं।

'हरिजन' में बापू के नाम एक अंग्रेज का लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगों की राय लेने के झंझट में पड़ने के बदले सयाने लोगों की सलाह से इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जंचती है। 'आदमी पीछे एक राय', यह बात तो मुझे भी बेतुकी-सी मालूम होती है। हरएक को एक ही राय क्यों? एक ही सिर है इसलिए ? सिर की तरफ ध्यान गया, इसलिए 'फी आदमी' एक राय का नियम बना और अगर कानों की तरफ ध्यान जाता तो? तब हरएक की दो-दो रायें होनी चाहिए, ऐसा कहते। "हरएक के दो कान होते हैं, इसलिए हरएक की दो रायें होनी चाहिए।" हरएक को एक ही राय का अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई सयुक्तिक कारण नजर नहीं आता, सिवा इसके कि हरएक के एक ही सिर होता है। क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्य में जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा दूसरे में हजार गुनी अधिक होती है। फिर भी बापू ने उस अंग्रेज सज्जन को जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते हैं कि "ये सयाने लोग हैं कहां और उनका प्रमाण-पत्र क्या है?" यह सवाल मुझे भी कुण्ठित कर देता है। मैं एक सयाने को दूसरे हजार आदमियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता हूं। लेकिन इस सयानेपन का प्रमाण-पत्र क्या हो? आज तो यही परिभाषा होगई है कि वायसराय जिसे प्रमाण-पत्र दे दें वही सयाना है। इस तरह के सयानों ने गोलमेज-परिषद में जो घपला किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा

जाय कि जिसे कांग्रेस कहेगी वही सयाना समझा जाय, तो यह बात भी बहुत लोग मानने को तैयार नहीं हैं। हम अपने घरों में भी यही करते हैं। जब किसी एक की या किसी बुजुर्ग की बात मानने के लिए परिवार के लोग तैयार नहीं होते तो हम सभीकी राय ले लेते हैं। वही अब तय किया गया है। विधान-परिषद् द्वारा हम इस प्रश्न का निपटारा करनेवाले हैं।

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगों की राय लेने से काम कैसे चलेगा ? मैं कहता हूं कि लिखने-पढ़ने का यह व्यर्थ बोलबाला क्यों ? बिना तकलीफ के दूसरे लोगों के भेजों में ज्ञान ठूंस देने की आलसी लोगों की हिमाकत का नाम है लिखना-पढ़ना। इस लिखने-पढ़ने से बहुत नुकसान हुआ है। सेगांव के महात्मा गांधी किशोरलालभाई से कुछ कहना चहते हैं तो एक पुरजे पर लिखकर बंद लिफाफे में भेजते है। वह लिफाफा लेकर एक अनाड़ी आदमी किशोरलाल भाई को दे देता है और वह बापू की बात समझ लेते हैं। बचपन में हम 'बोलती चिपटी' (टाकिंग चिप) का किस्सा पढ़ा करते थे। लोग कहते हैं कि "देखो, क्या चमत्कार है ! पढ़ने-लिखने की कला की बदौलत चिपटियां भी बोलने लगीं।" मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपटियां ही बोलनेवाली नहीं हुई, बल्कि बोलनेवाले चिपटियों-जैसे गूंगे होगये। अगर लिखने की कला न होती तो गांधीजी को अपनी जगह छोडकर किशोरलालभाई के पास जाना पड़ता। लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है, इसलिए दूसरा उपाय यह करना पड़ता कि उन्हें अपने आसपास के लोगों को अच्छी तरह समझा-बुझाकर होशयार

---

[१] दक्षिण अफ्रीका में एक अंग्रेज को दूसरे अंग्रेज के पास एक छोटा-सा संदेश भेजना था। लिखने-लिखाने का सामान पास था नहीं। एक चिपटी (लकड़ी के टुकड़े) पर लिखकर वहां के एक आदिवासी को दे दिया। उसने हाथ में लेकर पूछा, "क्या कहना होगा ?" साहब बोला, "यह चिपटी बोल देगी।" पानेवाले ने कहा, "ठीक है, समझ गया।" आदिवासी ने समझा, चिपटी ने इसे बोल दिया। इससे इस 'बोलती चिपटी' पर उसे बड़ा अचरज हुआ।

बनाना पड़ता कि वे ठीक-ठीक संदेसा पहुंचा सकें। लेकिन लिखने की कला की बदौलत आदमियों का काम चिपटियां बनाने से चल सकता है। गांधीजी के पास जितने बेवकूफ आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियों के पास रह सकते थे ? आज चिट्ठी के जरिये गांधीजी की बात बीच के आदमियों को लांघकर मेंढक के समान छलांग मारकर किशोरलालभाई के पास पहुंच जाती है। "हिंदुस्तान के लोग भेड़-बकरियों की भांति अपढ़ है, तभी तो तीन-चार लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते हैं। इतनी तो भेड़ें भी कोई नहीं संभाल सकता"—इस तरह की बातें मैं अक्सर व्याख्यानों में सुनता हूं। मेरा जवाब यह है कि अगर हिंदुस्तान के लोग भेड़ होते तो उनकी देखभाल के लिए बहुत-से लोगों की जरूरत पड़ती। वे आदमी हैं—और जिम्मेदार एवं समझदार आदमी हैं—इसलिए उनकी राज्य-व्यवस्था के लिए बहुत आदमियों की जरूरत नहीं। ये फालतू तीन-चार लाख गोरे जब नहीं थे, तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था।

यहां के लोग अपढ़ भले ही हों लेकिन अजान नहीं हैं। हमारे यहां इस पर कभी बहस नहीं हुई कि स्त्रियों को मतदान का अधिकार हो या नहीं। यूरोप में स्त्रियों को मतदान के अधिकार के लिए पुरुषों से लड़ना पड़ा। हमारे यहां एनी बेसेंट और सरोजिनीदेवी का कांग्रेस का अध्यक्ष-पद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहां के लोग समझदार और अनुभवी है। पढ़े-लिखे न हों, तो भी विधान-परिषद् के लिए प्रतिनिधि चुनने के लायक हैं।

फरवरी, १९४०

: २८ :

खादी और गादी की लड़ाई

सोनेगांव की खादी-यात्रा में शिष्ट लोगों के लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिये, क्योंकि वहां जो

दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौके पर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादी की अनबन है, दोनों की लड़ाई है और अगर इस लड़ाई में गादी की ही जीत होनेवाली हो तो हम खादी को छोड़ दें।

लोग कहते हैं, 'खादी की भी तो गादी बन सकती है ?' हां, बन क्यों नहीं सकती ! अंगूर से भी शराब बन सकती है; लेकिन बनानी नहीं चाहिए और बनाने पर उसे अंगूर में शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थ की तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ों के लिए गादी का इंतजाम किया जाय तो बात और है; लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरों में फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकिये का आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरह की गादी और खादी में विरोध है।

वास्तव में तो जो गादी हमेशा आसली लोगों और खटमलों की सोहबत करती है उसे शिष्ट जनों के लिए बिछाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहांतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्य की भी गद्दी बनाने से बाज नहीं आये ! शंकराचार्य तो कह गये—**कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**—"लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं।" और किसीको यह बात चाहे जंचे वा न जंचे, कम-से-कम आचार्य के भक्तों को तो जंचनी चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्म के लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपत की लड़ाई के लिए भी सकुटुंब, सपरिवार गये, मानो किसी बरात में जा रहे हों। और वहां से कार्यसिद्धि से हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे। गिबन ने कहा है—"रोम चढ़ा कैसे ?" "सादगी से"; "रोम गिरा कैसे ?" "भोग-विलास से।"

कुछ साल पहले, असहयोग के आरंभ-काल में देश के युवकों और बूढ़ों में

पुरुषों और स्त्रियों में, त्यागवृत्ति और वीरता का संचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमान से बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमान से खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादी का कुछ और ही ढंग से गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्व से कहने लगे, "देखिये, अब खादी में कितनी तरक्की हो गई है। बिल्कुल अप-टू-डेट (अद्यतन) पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहें खादी की बनवा लीजिये। और सो भी पहले की अपेक्षा कितने सस्ते दामों मे!" खरीदार भी कहने लगे, "खादी की प्रतिष्ठा इसी तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिल के कपड़े की पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझ में यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादी को मिल के कपड़े की बराबरी करनी है तो फिर खादी की जरूरत ही किसलिए है ? मिलें ही क्या बुरी है ? वैद्य अपनी दवाई की तारीफ करने लगा, "बिल्कुल सस्ती दवाई है, न परहेज की जरूरत, न पथ्य की।" मरीज आगया चकमे में। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि "पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।"

कोई गलत न समझे। कहने का यह मतलब कतई नहीं है कि मजदूरों को पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगों की सब तरह की जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बात में है ? किसीकी आंखें बिगड गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए; लेकिन ऐनकधारी को देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहां एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबा के दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबा के सारे भक्त उनके रूप की प्रशंसा करते नहीं अघाते, उनके उद्घोष (स्लोगंस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्ति को देखकर कहीं भी सुंदरता का खयाल नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्तिकार और भक्त जन दोनों, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छा-लाभ से ही संतुष्ट होगए। पंचतंत्रवाले किस्से में जिस तरह उन तीन धूर्तों ने

सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरे को कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगों ने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थर में सुन्दरता निर्माण करने की ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हां, यही बात है।" इस संसार की भीमा नदी में गोते खानेवालों को उबारने का जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्या पर लेटनेवाले या पंचायत का ठाट जमाकर तसवीर खिंचवाने के लिए आसन लगानेवाले देवता की सुंदरता का अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगा?" रामदास ने सिखाया है—"मनुष्य के अंतरंग का शृंगार है, चातुर्य; वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजी को हट्टे-कट्टे मावलों-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायण की पूजा में मग्न होगए। यहां दरिद्रता के पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभव के आराधक हैं।" मैं उससे कहना चाहता हूं, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्ल के पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो। हम कब दरिद्र को नारायण कहते हैं? हम तो 'दरिद्र' को नारायण के नाम से पुकारते हैं। और दरिद्र को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता। यदि मैं कहूं कि मैं ब्रह्म हूं, तो इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि तुम ब्रह्म नहीं हो। बस, अब तो संतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायण की पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है और श्रीमन्नारायण की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्य का अर्थ समझाकर उसका त्याग करवाने से होती है; और जब किसी मूर्ख-नारायण से पाला पड़े तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझाने से होती है! क्यों, ठीक है न?"

लेकिन इस यथार्थ विनोद को जाने दीजिये। अगर समाजवादी दोस्त को वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इन बातों को भी रहने दीजिये; लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न? दो-चार आदमियों को नरम-नरम गादी

मिले और बाकी सबको टाट के चीथड़े या धूल नसीब हो, वह तो उसे नहीं भाता न ! जब मैंने खादी और गादी की लडाई की बात छेड़ी तो मेरे मन में यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगों के लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यान में आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तों में एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहार का बड़ा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनंद से साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुर के बाद हरिपुरा की कांग्रेस ने विषमता की दिशा में एक कदम और आगे बढाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता, छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहां दर्जेवार प्रबंध किया गया था। गांधीजी के लिए यह दारुण दुःख का विषय था, यह बात ज़ाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकों पर ही होता हो, सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मन में उसने घर कर लिया है। "मजदूरों को पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं", इस विषय पर बहस हो सकती है, पर, "व्यवस्थापकों को पूरा वेतन दिया जाय या नहीं", इसकी बहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहात की सेवा के लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवन के अनुकूल बनाने की हिदायतें देते हैं। उन्हें देहात में भेजने और हिदायतें देने को तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस बात की तो क्या, तनिक यह भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयं हमको भी अपनी हिदायतों के अनुसार चलने की कोशिश करनी चाहिए। साम्य की भेद से दुश्मनी है, लेकिन विवेक से तो नहीं है! इसलिए बूढ़ों के लिए गादी हमने मंजूर करली है। इसी तरह देहात की सेवा के लिए जानेवाले युवक कार्यकर्त्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओं के जीवन में थोड़ा बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धांतों की भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजर में सहज आनेवाला ही नहीं, बल्कि चुभनेवाला भी होता है। इस विषम

वैभव का नाम गादी है। और इस गादी से खादी की दुश्मनी और लड़ाई है।

हाल ही में आश्रम में एक बात की चर्चा हो रही थी। आश्रम की आबादी बढ़ रही है, इसलिए अब नई जगह मोल लेकर ग्राम-रचना-शास्त्र के अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तर के कार्यकर्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदि के लिए किस प्रकार के मकान बनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूप में कहा—"मैं दाल हजम नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूं। मजदूर को दही का शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है, इसलिए दाल से काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेक की दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होना जरूरी है? जिस तरह मकान में मजदूर अपनी जिन्दगी बसर करता है, उसी तरह का मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकान के समान क्यों न हो?"

आप चाहे वैराग्य का नाम लें चाहे वैभव का, विषमता को बर्दाश्त हरगिज न कीजिये। इसीका नाम है 'आत्मौपम्य'। सच्चा साम्यवाद यही हैं। इसपर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवाद का कोई महत्त्व नहीं है; महत्त्व है 'तत्काल साम्यवाद' का। साम्यवाद को तुरंत कार्यान्वित करने की सिफत का नाम अहिंसा है। अहिंसा हरएक से कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है" अहिंसा का चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला घोंट लिया।

इन सारे अर्थ का संग्राहक सूत्र-वाक्य है—**खादी और गादी में लड़ाई है।**

: २६ :

निर्दोष दान और श्रेष्ठ कला का प्रतीक—खादी

खादी पहनने में महान् धर्म है। हम लोगों में धर्म करने की वृत्ति है। दान करने की वृत्ति भी है। यह बहुत अच्छी बात है। इस भूमि में अनेक साधु-संत पैदा हुए और उन्होंने भारतीय जीवन को दान-भावना से भर दिया है। आप सब सालभर में कुछ-न-कुछ दान करते है, धर्म करते हैं। लेकिन दान करते समय आप कभी विचार भी करते हैं? आज तो हमने विचार से इस्तीफा ही दे दिया है। विवेक अब हमारे पास रहा ही नहीं। विचार का चिराग बुझ जाने से आचार अंधा होगया है। मेरे नजदीक विचार या बुद्धि की जितनी कीमत है उतनी तीनों लोक में और किसी चीज की नहीं है। बुद्धि बहुत बड़ी चीज है। आप जब दान देते हैं तो क्या सोचते हैं? चाहे जिसे दान देने से क्या वह धर्मकार्य भली-भांति हो जाता है? दान और त्याग में भेद है। हम त्याग उस चीज का करते हैं जो बुरी होती है। अपनी पवित्रता को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिए हम उस पवित्रता में बाधा डालनेवाली चीजों का त्याग करते हैं। घर को स्वच्छ करने के लिए कूड़े-करकट का त्याग करते हैं, उसे फेंक देते हैं। त्याग का अर्थ है फेंक देना। लेकिन दान का मतलब फेंकना नहीं है। हमारे दरवाजे पर कोई भिखारी आगया, कोई बाबाजी आगये, दे दिया उसे एक मुट्ठी अन्न या एकाध पैसा—इतने से दानक्रिया नहीं होती। वह मुट्ठी-भर अन्न आपने फेंक दिया, वह पैसा फेंक दिया। उस कर्म में लापरवाही है। उसमें न तो हृदय है और न बुद्धि। बुद्धि और भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है, वही सुंदर होती है। दान के मानी 'फेंकना' नहीं, बल्कि 'बोना' है।

बीज बोते समय जिस तरह हम, जमीन अच्छी है या नहीं, इसका विचार करते हैं, उसी तरह हम जिसे दान देते हैं वह भूमि, वह व्यक्ति कैसा है, इस तरफ ध्यान देना चाहिए। किसान जब बीज बोता है तो एक दाने के सौ दाने

करने के खयाल से बोता है। वह उसे बड़ी सावधानी से बोता है। घर के दाने खेत में बोता है। उन्हें चाहे जैसे बेतरतीब बखेर नहीं देता। घर के दाने तो कम थे, लेकिन वहां खेत में वे सौ गुने बढ़ गये। दान-क्रिया का भी यही हाल है। जिसे हमने मुटठी-भर दाने दिये, क्या वह उनकी कीमत बढ़ायेगा ? क्या वह उन दानों की अपेक्षा सौ गुने मूल्य का कोई काम करेगा ? दान करते समय लेनेवाला ऐसा ढूंढ़िये जो उस दान की कीमत बढ़ाये। हम जो दान करें वह ऐसा हो जिससे समाज को सौ गुना फायदा पहुंचे। वह दान ऐसा हो जो समाज को सफल बनाये। हमें यह विश्वास होना चाहिए कि उस दान की बदौलत समाज में आलस्य, व्यभिचार और अनीति नहीं बढ़ेगी। आपने एक आदमी को पैसे दिये, दान दिया और उसने उनका दुरुपयोग किया, उस दान के बलपर अनीतिमय आचरण किया, तो उस पाप की जिम्मेदारी आप पर भी है। उस पापमय मनुष्य से सहयोग करने के कारण आप भी दोषभागी बने। आपको यह देखना चाहिए कि हम असत्य, अनीति, आलस्य, अन्याय से सहयोग कर रहे हैं या सत्य, उद्योग, श्रम, लगन, नीति और धर्म से। आपको इस बात का विचार करना चाहिए कि आपके दिये हुए दान का सदुपयोग होता है या दुरुपयोग। अगर आप इसका खयाल न रखेंगे तो आपकी दान-क्रिया का अर्थ होगा किसी चीज को लापरवाही से फेंक देना। हम जो दान देते हैं उसकी तरफ हमारा पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। दान का अर्थ है बीज बोना। आपको यह देखना चाहिए कि यह बीज अंकुरित होकर इसका पौधा बढ़ता है या नहीं।

तगड़े और तंदुरुस्त आदमी को भीख देना, दान करना अन्याय है। कर्महीन मनुष्य भिक्षा का, दान का, अधिकारी नहीं हो सकता।

भगवान् का कानून है कि हरएक मनुष्य अपनी मेहनत से जिये। दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को—जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रँगा हुआ है ऐसे संन्यासी को—ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर से देखने में भले ही ऐसा

मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नहीं करता, फिर भी दूसरी अनेक बातों से वह समाज की सेवा किया करता है। पर ऐसे संन्यासी को छोड़कर और किसी-को भी अकर्मण्य रहने का अधिकार नहीं है। दुनिया मे आलस्य बढ़ाने-सरीखा दूसरा भयकर पाप नहीं है।

आलस्य परमेश्वर के दिये हुए हाथ-पैरों का अपमान है। अगर कोई अंधा हो तो उसे रोटी तो मुझे देनी चाहिए, लेकिन उसको भी सात-आठ घण्टे काम दूंगा ही। उसे कपास लोढ़ने का काम दे दूंगा। जब एक हाथ थक जाय तो दूसरा हाथ काम में लाये और इस तरह वह आठ घंटे परिश्रम करे और मेहनत की रोटी खाये। अंधे, लूले और लंगड़े भी काम कर सकें वह काम उनसे कराके उन्हें रोटी देनी चाहिए। इससे श्रम की पूजा होती है और अन्न की भी। इसलिए जिसे आप दान देते हैं वह कुछ समाज-सेवा, कुछ उपयोगी काम करता है या नहीं, यह भी आपको देखना चाहिए। उस दान को बोया हुआ बीज समझिये। समाज को उसका पूरा-पूरा बदला मिलना जरूरी है। अगर दाता अपने दान के विषय में ऐसी दृष्टि नहीं रखेगा तो वह दान धर्म के बदले अधर्म होगा। अविवेक या निरी लापरवाही का काम होगा।

हर किसीको कुछ-न-कुछ दे देने से, भोजन कराने से, बिना विचारे दान-धर्म करने से अनर्थ होता है। अगर कोई गोरक्षिणी या गोशाला को कुछ देना चाहता है तो उसे देखना चाहिए कि क्या उस गोशाला से अधिक दूध वाली गायें निकलनेवाली हैं? क्या वहां गायों की नस्ल सुधारने की भी कोशिश होती है? क्या बच्चों को गाय का सुंदर और स्वच्छ दूध मिलता है? क्या वहां से अच्छी-अच्छी जोड़ियां खेती के लिए मिलती हैं? क्या गोरक्षा और गोवर्धन की वैज्ञानिक छानबीन वहां होती है? जहां मरियल गायों की भरमार है, बेहद गंदगी से सारी हवा दूषित हो रही है, ऐसे पिंजरा-पोल रखना दान-धर्म नहीं है। किसी भी संस्था या व्यक्ति को आप जो कुछ देते हैं उससे समाज को कहां तक लाभ होता है, यह आपको देखना ही चाहिए। हिंदुस्तान में दान-वृत्ति तो है, लेकिन उसमें विवेक-विचार न होने

के कारण समाज समृद्ध और सुंदर दिखने के बजाय आज निस्तेज, दबा हुआ और रोगी दिखाई देता है। आप पैसे फेंकते हैं, बोते नहीं हैं। इससे न इहलोक बनता है, न परलोक, यह आप न भूलें।

दान का भी एक शास्त्र है। वह कोई विवेकशून्य क्रिया नहीं है। खादी पहनकर हम इस दान-कर्म को बड़े उत्कृष्ट ढंग से संपन्न कर सकते हैं। मैं यह आपको समझा दूंगा। आपकी बुद्धि में न्याय-संगत जंचे तभी आप इसे मानें। आप लोगों में बहुतेरे व्यापारी हैं और व्यापारी तो बड़े हिसाबी होते हैं। मुझे हिसाबी आदमी बहुत पसंद हैं। हिसाबी वृत्ति का अर्थ है हरएक वस्तु की उपयोगिता देखना। यह आध्यात्मिक चीज है। साधु-संतों की ऐसी कई कथाएं हैं कि वे एक-एक पाई के हिसाब के लिए रातभर जागते रहे। परमार्थ का मतलब है बहुत उत्कृष्ट हिसाब। परमार्थ के मानी बावलापन नहीं है। परमार्थ बहुत श्रेष्ठ व्यापार है। उसका अर्थ है हरएक क्रिया की ओर विचारपूर्वक देखना। मैं आज आप लोगों को जमा-खर्च लिखना सिखानेवाला हूं। आप कहेंगे, "लीजिये, यह बाबाजी अब हमें हिसाब रखना सिखायगे! यहां तो सारी उम्र जमा-खर्च में ही गुजरी है।" लेकिन मैं फिर साफ-साफ कहता हूं कि आप जमा-खर्च नहीं जानते। यह आपको मुझसे सीखना चाहिए।

लोग कहते हैं कि खादी महंगी होती है। मैंने दोपहर को कुछ मित्रों को हिसाब करके सिखा दिया कि वह महंगी नहीं है। उन्होंने मुझे आंकड़े बतलाये। साल में अगर मिल का कपड़ा १०) का खरीदना पड़े तो उतनी ही खादी के दाम १५) हो जाते हैं। मतलब यह कि हर महीने साढ़े छः आने ज्यादा देने पड़ते हैं। यानी हर रोज करीब ढाई पाई, अर्थात् लगभग कुछ नहीं। जो जनता स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है वह अगर रोज ढाई पाई भी न दे सकती हो और पांच तोले अधिक वजन होने के कारण खादी न बरत सकती हो, तो वह साफ शब्दों में यही क्यों नहीं कह देती कि हमें न स्वराज्य की चाह है और न स्वतंत्रता की। लेकिन इसे जाने दीजिये। मैं दूसरी ही बात कहूंगा। आप जब मिल का कपड़ा खरीदते हैं तो १०) कपड़े-खाते खर्च

लिखते हैं और खादी खरीदते हैं तो लिखते १५) कपड़े-खाते नाम। लेकिन मैं कहता हूं कि खादी का हिसाब लिखने में आपको १५) खादी-खाते खर्च नहीं लिखना चाहिए। १५) के दो भाग कीजिये। १०) का कपड़ा और ५) दान-धर्म, कुछ मिलाकर १५) इस तरह हिसाब लिखिये। आपको जो ५) अधिक देने पड़े वे दूर रहनेवाले श्रमिकों को मिले। यह वास्तविक दान-धर्म है। खादी कितने लोगों को आश्रय दे सकती है, इसका विचार कीजिये। हमारे देश की मिलें तिहाई हिंदुस्तान के कपड़ों की जरूरत पूरी करती हैं। अगर हम यह समझ लें कि उनमें पांच लाख मजदूर काम करते हैं तो हिंदुस्तान की मिलों का कपड़ा खरीदने से पांच लाख मजदूरों को रोजी मिलती है। सारे हिंदुस्तान की जरूरत पूरी करने लायक कपड़ा तैयार करने का वे इरादा कर लें तो १५ लाख मजदूरों को काम मिलेगा। परंतु खादी ?—खादी करोड़ों मजदूरों को काम दे सकती है। अगर हम विलायती कपड़ा बिल्कुल न खरीदें तो मिल के जरिये १५ लाख मजदूरों को काम दे सकते हैं; लेकिन अगर खादी मोल लें तो करोड़ों मजदूरों को काम दे सकते हैं। खादी न खरीदना करोड़ों लोगों के मुंह का कौर छीन लेने के बराबर है। आधुनिक अर्थशास्त्र का सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि संपत्ति का जितना वितरण हो, उतना ही समाज का कल्याण होगा। किसी एक के पास दौलत न रहने पाये, वह बंट जानी चाहिए। यह बात खादी के द्वारा ही हो सकती है। मिल का पैसा मिल-वालों और उनके हिस्सेदारों की जेब में जाता है, खादी के द्वारा उसका वितरण होता है। आना-आना, आध-आध आना उन गरीबों को मिलेगा जो सारे देश में फैले हुए हैं। रत्ती-रत्ती या पाई-पाई का ही फायदा क्यों न हो, लेकिन सबका होगा, जैसे वृष्टि की बूंदे होती हैं। किसी नल की धार कितनी ही मोटी और वेगवती क्यों न हो, वह एक ही जगह बड़े जोर से गिरती है, सारी पृथ्वी को हरियाली से सुशोभित करने की शक्ति उसमें नहीं है। वर्षा रिम-झिम-रिमझिम पड़ती है, लेकिन वह सर्वत्र पड़ती है, मिट्टी के कण-कण को वह अलंकृत करती है। सूर्य का प्रकाश, हवा, वर्षा, ये सब परमात्मा की ऐसी महान् देनें हैं जो सबको मिलती हैं। खादी में भी यही खूबी है। जो दैवी गुण, जो

व्यापकता वृष्टि में है, वही खादी में भी है।

हमारे शास्त्रकारों ने दान की व्याख्या ही **'दानं संविभागः'** की है। दान का अर्थ है जो एक जगह इकट्ठा हो उसे सर्वत्र सम्यक् बांट देना। यह क्रिया खादी के द्वारा ही सम्पन्न होती है। महाभारत में अर्थशास्त्र का एक महान् नियम बताया गया है, व्यापक और सनातन अर्थशास्त्र के स्वरूप का वर्णन किया गया है—**'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्'** अर्थात् "जो महेश्वर है, श्रीमान् है, उसे दान न दो; बल्कि जो दरिद्र है, उसकी ज़रूरत पूरी करो!" श्रीमानों के भरण की जरूरत नहीं है, जो दरिद्री हैं उनके पेट के गढ़ों को पाटना है। उनको भर दो। यह सनातन सत्य है। आप जरी की शाल या मिल का कपड़ा खरीदते हैं तो पैसा श्रीमान् की तिजोरी में जाता है। जो गले तक ठूंस चुका है और खा-खाकर ऊब गया है, उसीको आपने फिर रबड़ी खिला दी। यह तो अधर्म हुआ, अन्याय हुआ। परंतु यदि अपने खादी खरीद ली तो वह धेला-पैसा दरिद्रनारायण के घर में जायगा। महाभारत और शास्त्रकार यही तो कहते हैं।

कोई-कोई कहते हैं, खादी में कला नहीं है। उसमें तरह-तरह के रंग नहीं हैं। जो ऐसा कहते हैं, वे कला का अर्थ ही नहीं समझते। मैं भी कला की कद्र करनेवालों में से हूं। एक बार मैं अपने एक मित्र के घर गया। वह मित्र पैसे-वाला था। उसने पचास रुपये में एक सुंदर चित्र खरीदा था। उस चित्र के रंग वह मुझे दिखा रहा था। एक जगह बहुत ही सुहावना गुलाबी रंग था। उसे दिखाकर वह बोला, "कैसा सुंदर है! क्यों?" मैंने जवाब दिया, "ऊंऽऽहूंऽ"। उसने कहा, "शायद आपको चित्र-कला में रुचि नहीं है?" मैंने उससे कहा, "भलेमानस, मुझे चित्र-कला में खूब रुचि है। सुंदर चित्रों के देखने में मुझे अपार आनन्द आता है। लेकिन सुंदर चित्र ही नहीं है! मुझे चित्र-कला से प्रेम है, उच्च चित्र-कला की मैं कद्र करता हूं। तुम्हारी अपेक्षा मुझे चित्र-कला का ज्ञान अधिक है; मैं उसका मर्म समझता हूं। इस चित्र का वह गुलाबी रंग सुंदर है। लेकिन मैं तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हूं। इस चित्र के तुमने पचास रुपये दिये। ज़रा हरिजनों की बस्ती में जाकर देखो। वहां तुम फीके

चेहरेवाले बच्चे पाओगे। रोज सवेरे जाओ, पंद्रह मिनट चलना पड़ेगा। रोज एक सेर दूध लेकर जाया करो। फिर एक महीने बाद उन लड़कों के मुंह देखो। उन स्याह और फीके रंगवाले चेहरों पर गुलाबी रंग आ जायगा। खून की मात्रा बढ़ने से चेहरे पर लाली आ जायगी। अब तुम्हीं बतलाओ, इस निर्जीव चित्र में जो गुलाबी रंग है वह श्रेष्ठ है या जो उन जीवित चित्रों में दिखाई देगा वह? वे बालक भी इस चित्र-जैसे सुंदर दीख पड़ेंगे! मेरे भाई, ये जीवित कला के नमूने मरते जा रहे हैं। इन निर्जीव चित्रों को लेकर उपासक होने की डींग मारते हो और इस महान् दैवी कला को मिट्टी में मिलने देते हो!" इसी प्रकार का विचार यहां भी हो रहा है। खादी के द्वारा आप वास्तविक कलापूजक बनेंगे, क्योंकि दरिद्रनारायण के चेहरे पर ताज़गी, सुर्खी ला सकेंगे। समाज में जो भाई मरणोन्मुख हैं, उन्हें जिलाकर समाज में दाखिल करा सकेंगे। इससे बढ़कर कौन-सी कला हो सकती है!

खादी के द्वारा द्रव्य का वितरण होता है। वह अत्यन्त मोहताज, मेहनती और दरिद्र मजदूरों को मिलता है। खादी द्वारा कला की—जीवित कला की उपासना होती है। ईश्वर के बनाये जीवित चित्रों को न कोई धोता है, न पोंछता है और न सजाता है! उधर निर्जीव चित्रों को सुंदर-सुंदर चौखटों से सजाते हैं, लेकिन इधर दरिद्र बालकों के शरीर पर न कपड़े हैं, न पेट में अन्न। ये दिव्य चित्र खादी के द्वारा चमकेंगे।

इतना ही नहीं, खादी में और भी कई बातें हैं। सबसे श्रेष्ठ दान कौन-सा है? सभी धर्मों में बार-बार एक ही बात कही गई है—'गुप्तदान श्रेष्ठ है।' बाइबिल में कहा है, "तुम्हारा दाहिना हाथ जो देता हो उसे बायां हाथ न जानने पाये।" सब धर्म-ग्रंथों की यही सिखावन है। खादी के द्वारा यह गुप्त-दान होता है। यही नहीं, बल्कि खुद दाता भी यह नहीं जानता कि मैं दान कर रहा हूं और न लेनेवालों को इसका पता होता है कि मैं दान ले रहा हूं। खरीदार कहता है, मैंने खादी खरीदी। जिस गरीब को पैसे मिलते हैं वह सोचता है, मैंने अपने श्रम का मेहनताना लिया। इसमें किसीका दबैल बनने की जरूरत नहीं, फिर भी इसमें दान तो है ही। दान तो वही है जो किसी

को दीन नहीं बनाता । दया या मेहरबानी से जो हम देते हैं उसके कारण दूसरे की गर्दन झुकाते हैं । समाज में दो तरह के पाप हैं। एक की गर्दन जरूरत से ज्यादा तनी हुई—घमण्ड के कारण तनी हुई, और दूसरे की जरूरत से ज्यादा झुकी हुई—दीनता से झुकी हुई होती है । ये दोनों पाप ही हैं। एक उन्मत्त और दूसरा दबैल तथा दुर्बल । गर्दन सीधी हो और लचीली भी हो, लेकिन न तनी हुई हो, न झुकी हुई । कर्मशून्य मनुष्य को बड़ी शान से जब हम प्रत्यक्ष दान देते हैं तब हम तो अपनी शान और मिजाज में मस्त होते हैं और वह मंगन दीन होता है। पाप दोनों तरफ है । खादी में गुप्तदान सिद्ध होता है। हमारे दिल में तो दान की भावना भी नहीं होती, फिर भी दूसरे को मदद तो पहुंचती ही है। दान देनेवाले और लेनेवाले ने एक-दूसरे को देखा तक नहीं, लेकिन वास्तविक धर्म पर अमल हो रहा है ।

आजकल हम गुप्तदान की महिमा भूल गये हैं । यह विज्ञापन का युग है । मेरी मां मुझे वर्तमान गुप्तदान की पोल बताया करती थी। लड्डू के अन्दर चवन्नी या दुअन्नी रख दी जाती है, लेकिन पंडितजी से धीरे-से कह दिया जाता है, 'ज़रा धीरे-धीरे चबाइये, अन्दर चवन्नी है।' गुप्तदान देने के लिए लड्डू में चवन्नी रख दी जाती है, लेकिन अगर पंडितजी को सतर्क न किया जाय तो बेचारे के दांतों पर आफत आजाय । मतलब, फिर वह दान गुप्त तो नहीं रहेगा, क़िसी-न-किसी बहाने प्रकट होगा ही । आजकल समाज में दानी लोग अपना नाम खुदवाते हैं । पैसे देते और कहते हैं, 'हमारा नाम दे दीजिये।' यह अधःपतन है । मुझसे एक बार एक श्रीमान् कहने लगे, 'मुझे कुछ रुपये देने हैं ।' मैंने कहा, 'बहुत अच्छा, लाइये।' उन्होंने कहा, 'उस इमारत में मेरा नाम दे दीजिये ।' मैंने जवाब दिया, 'आपके रुपये मुझे नहीं चाहिए । इस प्रकार का दान लेने में मुझे आपकी आत्मा का घोर अपमान करने का पाप लगेगा । आप खुद अपनी आत्मा का अपमान करने पर उतारू होगए हैं, पर मैं उसमें हाथ बंटाना नहीं चाहता। यह पाप है और आपको समझाना मेरा काम है ।' इसमें आत्मा का कितना बड़ा अपमान है ! क्या आप अपनी इच्छाओं को, अपनी अनंत आत्मा को उन पत्थरों में क़ैद करना चाहते हैं ?

इसीलिए हमारे पूर्वजों ने गुप्तदान की शिक्षा दी। आजकल के दान दरअसल दान ही नहीं हैं। आपने पैसे देकर इमारत पर अपना नाम खुदवाया। इसका मतलब तो यही हुआ कि आपने अपने हाथों अपनी कब्र बनवा ली, आपने खुद अपनी बड़ाई करवा ली। इसमें दान क्या किया ! गुप्तदान बहुत ही पूजनीय वस्तु है। मैंने आपसे कहा कि खादी खरीदने में १०) खादी-खाते और ५) दानधर्म-खाते आप लिखें। यह जो सालभर में दान-धर्म होगा वह गुप्त होगा। यह गुप्तदान देते हुए आपको यह गर्व न होगा कि मैं बडा उपकार कर रहा हूं, और जिस गरीब को दो-चार आने मिलेंगे उसे भी किसीके दरवाजे पर जाकर 'बाबा, एक मुट्ठी' कहने के बजाय, 'मैं अपनी मेहनत का खाता हूं,' यह अभिमान होगा। यह गुप्तदान का महान् धर्म भी खादी खरीदने से सिद्ध होगा, दूसरे दोनों की जरूरत ही न रहेगी। असल में वह दान ही नहीं है। दान वही है जो दूसरों को स्वाभिमान सिखाये। खादी खरीदने में जो मदद पहुंचेगी, जो गुप्तदान दिया जायगा, उसकी बदौलत मजदूरों को देहात में ही काम मिलेगा, उन्हें अपना घर-बार छोड़ना न पड़ेगा। देहात की खुली हवा में वे रह सकेंगे। देहात छोडकर शहर में आने पर वे कई बुरी आदतों और ऐबों के शिकार बन जाते हैं, और उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य का नाश होता है, सो न होगा, देहातियों के शरीर और मन नीरोग और निरालस रहेंगे। मतलब खादी के द्वारा जो दान होता है, उससे समाज में कितना कार्य हुआ, यह देखना चाहिए। आदमियों के शरीर और हृदय—उनकी शारीरिक शक्ति और चरित्र शुद्ध रखने का श्रेष्ठ उद्देश्य खादी द्वारा सफल होता है। इसीका नाम है बीज बोना। यही वास्तविक दान है, गुप्तदान है, संविभाग है, जीती-जागती और खेलती हुई कला निर्माण करनेवाला दान है।

'दरिद्रान् भर कौन्तेय', **'दानं संविभागः'**, इन सूत्रों को आप न भूलें। आपके श्रेष्ठ पूर्वजों की यह दान-नीति है। जो अनीति और आलस को बढ़ाता है, वह दान ही नहीं है; वह तो अधर्म है। उस दान को देनेवाला और लेनेवाला दोनों पाप के हिस्सेदार होते हैं। दोनों **'अवसि नरक-अधिकारी'** हैं। इसलिए विवेक की आंख खुली रखकर दान कीजिये ! यही कर्म-कुशलता

है। आप दया-धर्म का पालन करते हैं। हृदय के गुण की तो रक्षा की, लेकिन बुद्धि के गुण का नाश किया। बुद्धि और हृदय का जब बिलगाव होता है तो अनर्थ होता है। हृदय कहता है, 'दया करो, दान करो!' लेकिन 'दया किस प्रकार करें, दान कैसे' यह तो बुद्धि ही सिखाती है, विचार ही बतलाता है। जहां बुद्धि और हृदय का संयोग होता है, वहीं योग होता है। ज्ञान और बुद्धि की एकता का ही नाम योग है। यही कर्म-कुशलता है। आज दान महज एक रूढ़ि है। जब आचार में से विचार निकल जाता है तो निर्जीव रूढ़ि ही बाकी रह जाती है। इसलिए विवेकयुक्त दान-धर्म सीखिये। दान-जैसी कोई चीज स्वतंत्र ही रह जानी चाहिए। इस प्रकार के गुप्तदान समाज के नित्य के व्यवहार में हुआ करते हैं। खादी के द्वारा इसका पालन कैसे होता है, यह मैंने दिखा दिया। अगर आप इसे ठीक समझते हों तो इसपर अमल करें।

हमारा जन्म इस भारत-भूमि में हुआ है। इस भूमि का प्रत्येक कण मेरे लिए पवित्र है। सैकड़ों साधु-संत इस भूमि में उत्पन्न हुए और लोगों को जगाते हुए विचरते रहे। इस धूलि को उनके चरणों का स्पर्श हुआ होगा। जी चाहता है कि इस धूलि में खूब लोटूं। 'दुर्लभं भारते जन्म' मेरा अहोभाग्य है कि मैं इस भूमि में पैदा हुआ। मैं इस भारतवर्ष में उत्पन्न हुआ—इस विचार से ही कभी-कभी मेरी आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगती है। आप ऐसी श्रेष्ठ भूमि की संतान हैं। आप अपने-आपको धन्य मानें। आज ज़रा बुरे दिन आगये हैं, क्लेश, कष्ट, अपमान सहने पड़ते हैं, लेकिन इस विपत्ति में धीरज देनेवाला विचार भी तो पास ही है। हम सब आशा से काम करें, विवेकपूर्ण कर्म करें, अपने जीवन में दर्शन का प्रवेश करें। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इस देश के अच्छे दिन आयंगे। लेकिन जरूरत है सुन्दर कृति की। वही कीजिये!

: ३० :

श्रमदेव की उपासना

मनुष्य को प्राय: वाह्य अनुकरण की आदत रहती है। आकाश के तारों को देखकर जी ललचाता है, इसलिए हम अपने मंदिरों में कांच की हांड़ियां और झाड़-फानूस टांगते हैं। आकाश के नक्षत्र तो आनंद देते हैं, पर ये हांड़ियां और झाड़ तो घर के अंदर की स्वच्छ वायु को जलाते हैं। चार महीने की वर्षा के वाद धुले हुए आकाश के अनगिनत नक्षत्रों को देखकर हमने दिवाली मनाना शुरू किया। छुटपन में हम एक वृक्ष के फल में नारियल का तेल डाल कर दिये जलाते थे। अब तो देहात में भी भयानक धुआं उगलनेवाले मिट्टी के तेल के दिये जलाये जाते हैं। इसी तरह देहात में हम कांग्रेस की नकल उतारते हैं। आरंभ संगीत से करते है, चाहे लोग उसे समझें न। यह फलाना गेट, वह ढिमका गेट, ऐसे दरवाजों के नाम भी रख लेते हैं, लेकिन अनुकरण अंदर से होना चाहिए।

मेरा मतलब यह है कि कांग्रेस में राष्ट्र का वैभव नजर आना चाहिए, लेकिन खादी-यात्रा के द्वारा तो उसका वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालय से निकलनेवाली गंगा गंगोत्री के पास छोटी और शुद्ध है। प्रयाग की गंगा में नदियां, नाले और नालियां मिलकर वह वैभवशालिनी वन गई है। दोनों स्थानों में वही पवित्र गंगाजी है। लेकिन गंगोत्री की गंगा यदि प्रयाग की गंगा के अनुकरण का दम भरे तो प्रयाग की विशालता उसे प्राप्त होने के बजाय वह अस्वच्छ, अशुद्ध हो जायगी। कांग्रेस के समान बड़े-बड़े सम्मेलनों में राष्ट्र का वैभव और ऋद्धि प्रकट होती है। छोटी-सी खादी-यात्रा में वैराग्य और शुद्धि के दर्शन होने चाहिए। हम चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, कांग्रेस का वैभव देहात में नहीं ला सकते। वहां तो देहातियों के दिल की ताकत और देहाती जीवन ही प्रकट होना चाहिए।

हम खादी-यात्रा में क्यों एकत्र होते हैं ? व्याख्यान, खेल-कूद, राष्ट्रगीत

के लिए नहीं। चाहे जिस तीर्थ-स्थान को ले लेजिये। तीर्थ-स्थान में मेला लगता है। और भी हजारों चीजें होती हैं। लेकिन यात्री वहां किसलिए जाते हैं ? देव-दर्शन के लिए। कोई कहेगा, उस पत्थर में क्या धरा है जी? लेकिन तीर्थ-यात्री के लिए वह पत्थर नहीं है। उमरेड़ (नागपुर के पास की एक तहसील) के पास रहनेवाला एक अछूत लड़का पंढरपुर जाता है। उसे कोइ मंदिर में जाने भी नहीं देता। लेकिन वह तो वहां देवता के दर्शन के लिए ही गया; हम उसे पागल भले ही कहें। पंढरपुर के देवता से कोई मतलब नहीं है। लेकिन वहां जो मेला लगता है. उससे लाभ उठाने के लिए वहां हम उस मौके पर खादी-ग्रामोद्योग की प्रदर्शनी का आयोजन करते हैं। पर हमारा उद्देश्य सफल नहीं होता। चाहे शुद्ध उद्देश्य से ही क्यों न हो, लेकिन यदि जनता को फांसना ही है तो कम-से-कम मैं तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फांसूंगा। खादी-ग्रामोद्योग का स्वतंत्र मंदिर हम क्यों नहीं बना सकते ? दूसरे मेलों से लाभ उठाने की जरूरत हमें क्यों पड़ती है ?

खादी-यात्रा में हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसा के प्रेमी क्यों एकत्र होते हैं ? मुझ-जैसे कई ऐसे आदमी भी होंगे जिन्हें दो दिन रहने की फुरसत भी न हो। वे यहां किस खास चीज के लिए आयें ? मेरा उत्तर है—सब मिलकर एकत्र कातने के लिए। परिश्रम हमारा देवता है, उसके दर्शनों के लिए। मेरी इच्छा गांधी-सेवा-संघ के सम्मेलन में जाने की थी। सिर्फ इसलिए कि वहां सामुदायिक शरीर-श्रम का कार्यक्रम होता है। खादी-यात्रा में यह गद्दी किसलिए ? खादी और गादी (गद्दी) की लडाई है। अगर इस लड़ाई में खादी की जीत होनेवाली हो तो हमको गादी छोड़ देनी चाहिए। दुबले-पतले, कमजोर आदमियों और बूढ़ों के लिए गादी का उपयोग भले ही होता रहे। हमें तो जमीन लीप-पोतकर मुख्य कार्यक्रम करना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम मुख्य होने लगें, तो यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आये, हम सुन्दर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरह की चटनी और अचारों के ढेर लगाकर थाली लगायें,

लेकिन उसमें रोटी रखें केवल दो तोले। वह बेचारा कहेगा कि 'मेरा इस तरह मजाक क्यों उड़ाते हो, भाई !' इसी प्रकार देहाती कहेंगे, 'हम यहां मजदूरी करने आते हैं। क्या आप लोग हमारे साथ मजाक करने आते हैं ?'

दूसरे लोग हमसे पूछते हैं, तुम्हारा धर्म कैसा है ? लोग श्रीकृष्ण की जय बोलते हैं, लेकिन सौ में निन्यानवे लोग गीता का नाम तक नहीं जानते। मुझे इसका इतना दुःख नहीं है। गोपालकृष्ण का नाम तो सब लोग जानते हैं न ! उनकी जीवनी तो सब जानते हैं न ! कृष्ण की महत्ता इसलिए नहीं है कि उन्होंने गीता का गायन किया ; वह तो उनके जीवन के कारण है। द्वारिकाधीश होने के बाद भी सारा राज-काज संभालकर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालों के साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। उन्हें इस सारे काम से इतना प्रेम था, इसीलिए आज भी लोगों के दिल में उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते हैं। परिश्रम के प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहें कीजिये, पर अनुकरण का अभिनय न हो।

महात्माजी बिल्कुल तंग आगए हैं। अहिंसा के बल पर हमने इतनी मंजिल तय की, लेकिन अब भी हमारी सरकार को तो हिंदू-मुसलमानों के दंगों में पुलिस और फौज बुलानी पड़ती है, अहिंसा के बल पर हम दगे शांत नहीं करा सकते। यह एक तरह से अहिंसा की हार ही है। दुर्बलों की अहिंसा किस काम की ! कोई-कोई कहते हैं, इसमें मंत्रियों का क़सूर है। मैं कहता हूं, तिनके के बराबर भी क़सूर उनका नहीं है। लेकिन आखिर मंत्री बनकर भी क्या हम यही करते रहेंगे ! अंग्रेजों के आने से पहले भी तो हम यही करते थे—जब जरूरत होती, अंग्रेजों की सेना का आह्वान करते थे। तब और अब में भेद ही क्या रहा ! गांधी के देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौज की शरण लेते हैं, इसकी अंग्रेजों को कितनी खुशी हो रही होगी ! अगर बिना फौज के काम ही न चलता हो तो अपनी फौज खड़ी कीजिये। आज

तो फौज में चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते हैं। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेंगे। आप देश की हालत जाननेवाले लोगों को फौज में भरती करेंगे।

महात्माजी ने अपने दो लेखों में यह बात साफ कर दी है कि अहिंसा वीरों की होनी चाहिए, दुर्बलों की कदापि नहीं। जब शस्त्र की धार शरीर में लगती है तभी वीरता की परीक्षा होती है। आप अहिंसा का दम भरेंगे और मरने से डरेंगे, तो ऐन मौके पर आपको पता चलेगा कि आप कायर हैं।

कांग्रेस के ३१ लाख सदस्य बन गये हैं। लेकिन संख्या को लेकर हम क्या करें! रोज जिन्हे एक ही जून रोटी नसीब होती है ऐसे सब लोगों को सदस्य बनालें तो पैंतीस करोड़ सदस्य बन जायंगे। दोनों जून खानेवालों को बनाना हो तो कम-से-कम चार-पांच करोड़ को इनमें से कम कर देना पड़ेगा। सिंधिया के पास साठ हजार फौज थी और होलकर के पास चालीस हजार, लेकिन वेलेजली ने पांच हजार फौज से उनको हरा दिया। क्यों? जब वेलेजली ने चढ़ाई की तो सिंधिया के दस हजार जवान पाखाने गये थे और दस हजार सो रहे थे। इस तरह के तमाशबीन किस काम के! और फिर अहिंसा की लड़ाई में ऐसे आदमियों से तो काम नहीं चलेगा। बड़ के पेड़ के नीचे जो लोग आराम करने आते हैं, वे उसकी छाया से लाभ उठाते हैं; लेकिन उनमें से कोई उसके काम नहीं आयेगा।

मंत्रि-पद स्वीकार कर लेने में लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बड़ा भारी नुकसान हुआ। लोगों की स्वावलंबन की हिम्मत घटी हुई-सी दीख पड़ती है। उधर वह बूढ़ा (गांधी) बिल्कुल परेशान हो रहा है। संयुक्तप्रांत की असेंबली में दंगों के बारे में बहस होती है और मुसलमानों की ओर से शिकायत आती है कि मंत्री जनता की अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सके। अगर हमें हिंसा का ही मार्ग लेना था तो हमने ये अठारह साल अपने अच्छे-से-अच्छे लोगों को अहिंसा की शिक्षा देने में बिताने की बेवक़ूफी क्यों की! जर्मनी और इटली की तरह इन नौजवानों को

भी फौजी शिक्षा दी गई होती ? इसलिए गांधीजी कहते हैं कि मेरा मार्ग यदि बहादुरों के मार्ग के रूप में जंचता हो तो उसे स्वीकार करो, वरना छोड़ दो।

पौनार में मैं मजदूरों के साथ उठता-बैठता हूं। मैंने उनसे कहा, 'तुम लोग अपनी मजदूरी इकट्ठी करके आपस में बराबर-बराबर बांट लो!' आपको शायद सुनकर अचरज होगा, पर मजदूरों ने कहा, 'कोई हर्ज नहीं।' लेकिन इस प्रस्ताव पर अमल कैसे हो ? उनसे अलग रहकर ? जब मैं भी उनमें शामिल हो जाऊंगा तब हम सब मिलकर उसपर अमल करेंगे। आपको अपने हजार आंदोलन छोड़कर इस सच्ची राजनीति की ओर ध्यान देना चाहिए। मजदूरों की मजदूरी की शक्ति प्रकट होनी चाहिए। आप गरीबों के हाथ में सत्ता देना चाहते हैं न ? तब तो उनके हाथों का खूब उपयोग होने दीजिये। बचपन में हम एक श्लोक पढ़ा करते थे—**कराग्रे वसते लक्ष्मी**—'अंगुलियों के अग्रभाग में लक्ष्मी वास करती है।' तो फिर बताइये, क्या इन अंगुलियों का ठीक-ठीक उपयोग होना आवश्यक नहीं है ? क्या उनमें उत्तम कला-कौशल आना जरूरी नहीं है ? हम विदेशी वस्त्र-बहिष्कार-कमेटी बनाते हैं। उसमें गद्दी, कलम, कागज और दूसरी हजार चीजें होती है, लेकिन चरखा, धुनकी नदारद! गांधी-सेवा-सघ में हर महीने हजार गज कातने का नियम है, लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भली-भांति पालन नही होता। ये स्वराज्य प्राप्त करने के लक्षण नहीं हैं। फिर तो आपका स्वराज्य सपने की चीज है। जबतक हम मजदूरों के साथ परिश्रम करने के लिए तैयार न होंगे तबतक उनका हमारा 'एका' कैसे होगा ? जबतक हम उनमें घुल-मिल न जायं तब-तक हमारी अहिंसा की शक्ति प्रकट न होगी।

कताई की मजदूरी की दर बढ़ाई जानेवाली है, इससे कुछ लोगों को शिकायत है। कुछ लोग कहते हैं कि मजदूरी चाहे जितनी बढ़ायें, लेकिन खादी सस्ती रहे। अब इस दलील के सामने अर्थशास्त्र क्या अपना सिर पीटे! कताई की दर बढ़ाकर खादी सस्ती कैसे करें, शायद इसका भी मेल बैठाने में सफलता मिल जाय; लेकिन उसके लिए यंत्र, तोप, हवाई जहाज

आदि की सहायता लेनी पड़ेगी। शहर में रहनेवाले जमनालालजी यदि कहें कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए तो भले ही कहें, मगर देहात के लोग भी जब यही कहने लगते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आप कहते हैं कि मजदूरों को जिंदा रहने के लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजान से यही चाहते हैं कि हम जियें और जन्म-भर उनकी मजदूरी करें।

खादी का व्यवस्थापक यदि २०) वेतन लेता है तो त्यागी समझा जाता है, उसे निजी काम के लिए या बीमारी के कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है, लेकिन उसके मातहत काम करनेवाले को डेढ़ आना मजदूरी मिलती है। निजी काम के लिए या बीमारी की छुट्टियां नदारद! हां, बिना वेतन के चाहे जितनी छुट्टियां लेने की सुविधा है। इन बेचारे मजदूरों को अगर खादी-यात्रा में आना हो तो अपनी रोजी त्याग करके आना पड़ता है और इसके अलावा यहां का खर्च भी देना पड़ता है। शायद तुलना कड़वी लगे, लेकिन कड़वे-मीठे का सवाल नहीं है, सवाल तो है सच और झूठ का।

कुछ लोग कहते है, समाजवादियों ने मजदूरों को फुसलाकर अपने पक्ष में कर लिया है, इसलिए हमें मजदूरों में जाकर उन्हें समाजवादियों के चंगुल से छुड़ाना चाहिए। लेकिन आप मजदूरों में किस ढंग से प्रवेश करना चाहते हैं? अगर अहिंसक ढंग से उनमें शामिल होना है तब तो व्यवस्थापक और मजदूर में आज जो अंतर है वह घटता ही जाना चाहिए। व्यवस्थापकों को मजदूरों के समान बनना चाहिए। मजदूरों का वेतन बढ़ाना चाहिए। 'मजदूरों का वेतन बढ़ाकर उनका और एक विशेष वर्ग तुम निर्माण करोगे', ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग करते हैं। तो फिर मुझपर यह भी आक्षेप क्यों न किया जाय कि मैं देश की सेवा करनेवाले देश-सेवकों का ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हूं? मजदूरी की दर बढ़ाये बिना मैं मजदूरों के साथ एकरूप किस तरह हो सकता हूं! उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है!

किशोरलालभाई का आग्रह था कि शिक्षकों को कम-से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए। पौनार के मास्टरों को १६) माहवार मिलना है। मजदूरों को उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राणपखेरू उड़

चुके थे, सो कताई के भाव बढ़ते ही फिर इस शरीर में लौट आये। बेचारों को दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती है, तब कहीं बड़ी मुश्किल से चार आने पैसे मिलते हैं। और यहां तो कम-से-कम खर्च छः आने का है। भला बताइये, मैं उनमें कैसे शामिल हो सकता हूं !

आज तो श्रम की प्रतिष्ठा केवल वाङ्मय—साहित्य--में है। इससे कोई फायदा नहीं। श्रम का अधिक मूल्य देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढ़ाना है और इसका आरभ हम आप सबको मिलकर करना है ।

यहां इतने खादीधारी आते हैं, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नहीं लाते । यहां तकली भूलकर आना, मानों नाई का अपना उस्तरा भूल आना है । हम यहां खिलवाड़ के लिए नहीं आते। हमारी खादी-यात्रा में वैराग्य का वैभव और श्रम की शक्ति प्रकट होनी चाहिए ।

: ३१ :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आज तक खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है । अब श्रद्धा के साथ-साथ विचारपूर्वक करने का समय आगया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं, क्योंकि उन्होंने ही खादी की दर बढ़ाई है ।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर 'यंत्र-युग' होने के कारण कार्यकर्त्ताओं ने मिल के भाव दृष्टि में रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहां गरीबी थी उन स्थानों में कम-से-कम मजदूरी देकर खादी-उत्पत्ति का कार्य चलाना पड़ा। लेनेवालों ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी । मध्यम वर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि उसके भाव मिल के कपड़े के बराबर होगए हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और महंगी

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले; जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरा। अर्थशास्त्र का—सच्चे अर्थशास्त्र का, यह नियम है कि इन तीनों वर्गों में जो ईमानदार है उन सबको पेट-भर अन्न, वस्त्र और आश्रय की आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्व पर चलता है। जैसा कुटुम्ब में, वैसा ही समस्त राष्ट्र में होना चाहिए। इसीका नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' या 'सच्चा अर्थशास्त्र'। इस अर्थशास्त्र में सब ईमानदार आदमियों के लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगों के पोषण का भार राष्ट्र के ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशों में (जो यंत्र-सामग्री से संपन्न हैं) दूसरे देशों की संपत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं, तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारी के कारण प्रतिवर्ष बेकारों को भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे २०-२५ लाख बेकारों को मजदूरी न देकर अन्न देना पडता है। आप कहते है कि भिखारियों को काम किये बगैर अन्न न दो, पर वहां अन्नदान का रिवाज चालू है। इन लोगों को काम दीजिये। इन्हें काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खाने को दो', यह नीति इंग्लैंड मे है तो सारे संसार में क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिये। पर यहां लागू करने पर काम न देकर १॥ करोड़ लोगों को अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम १॥ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे, यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगों को अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मन में ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंडवाले दूसरे देशों की संपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारी से राज करना हो तो ऐसा करना संभव नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहां ऐसा कोई धंधा नहीं जो कृषि के साथ-साथ किया जा सके। जिस देश में केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। फिर हिंदुस्तान में तो ७५ प्रतिशत से भी ज्यादा

काश्तकार हैं। यहां की जमीन पर कम-से-कम दस हजार वर्ष से काश्त की जाती है। अमेरिका हिंदुस्तान से तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहां की सिर्फ १२ करोड़ है। जमीन की काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्व से हो रही है। इसलिए वहां की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारों के हाथ में और भी धधे दिये जायं तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकार की यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तान में काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश यह कि वर्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते है कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं आनंद है। खादी बीड़ी का बंडल अथवा लिप्टन की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसाने को कहें तो इसमें कितना समय लगेगा, इसका विचार कीजिये। खादी निर्माण का काम है, विध्वंस का नहीं। यह विचार अंग्रेज के विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है, इसका दुःख नही; यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही, पर उस खादी में और आज की खादी में अन्तर है। आज की खादी में जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज की खादी का अर्थ है सारे संसार में चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी के प्रवाह के ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह, प्रतिकूल समय, जीत सकेंगे तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समय का संहार करनेवाली मैं हूं" ऐसा वह कह सकेगी। **'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'**—ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायगी। इसलिए यदि मिल के कपड़े से खादी की तुलना की गई तो समझ लीजिये कि वह मिट गई—मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिल की तुलना में सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं बड़े मोल की हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हें अलंकृत करती हूं। मैं

सिर्फ शरीर ढांपने-भर को नहीं आई; मैं तो आपका मन-हरण करने आई हू ।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी ? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी, और जायगी तो पक्के तौर से जायगी। खादी के प्रचलित विचारों की विरोधिनी होने के कारण उसे पहननेवालों की गणना पागलों में होगी ।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्यों को हमें अन्न देना है । इसे करने के लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिये। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातने का काम करनेवाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओं के विषय में काश्तकार को स्वावलबी होना चाहिए, यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरों को महगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हों वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए । अन्न, वस्त्र, दूध, ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी, गिलास-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तव में दूध महंगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए जो हैं महंगे । यह आज की स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए । इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा ? इने-गिने जिन नौकरों को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोड़िये। जिस राष्ट्र में ७५ प्रतिशत काश्तकार हों उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा ? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारों की चीजें महंगी और बाकी की चीजें सस्ती होनी चाहिए ।

मुझसे लोग कहते हैं, 'तुम्हारे ये सब बिचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो ' पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की बात जानते हैं ? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे

समझ लिया ? मैं कहता हूं कि हम यत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रों का आविष्कार किया है न ? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारों की वस्तुएं छोड़कर बाकी की वस्तुएं आप सस्ती कीजिये। अपनी यंत्र-विद्या काश्तकारों के धंधों के अलावा दूसरे धंधो पर चलाइये और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिये। पर आज होता है उल्टा। काश्तकारों की वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्र की सारी वस्तुएं महंगी ! मैं खादी-वाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारों को एक पैसे में पांच डिबिया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांववालों को चाहिए, तो दीजिये न आध आने में महीने भर ! आप खुशी से यंत्र निकालिये, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूं। केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यंत्रों की बनी वस्तुएं पैसे-दो पैसे में मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारों से खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दे कि हम अपनी चीज खाते हैं, हमारे खाने के बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइये, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा !

इसलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतों के सामने यह समस्या है कि खादी मंहगी हुई तो क्या होगा ! पर किनका ? किसानों को खादी खरीदनी नहीं, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महगी नहीं, वह उन्हें दूसरों को महंगी बेचनी है।

: ३२ :

वृक्षशाखा-न्याय

मेरा यह बराबर अनुभव रहा है कि शहरियों की अपेक्षा देहाती अधिक बुद्धिमान् होते हैं। शहरी ज़ड़ हैं। जड़ संपत्ति की सोहबत से जड़ बन गये हैं।

मैं आज देहातों की जागृति के बारे में दो शब्द कहूंगा। आजकल किसानों के संगठन के लिए किसान-सभाएं कायम की जा रही हैं। लोग मुझसे पूछते हैं, 'किसान-सभाएं बन रही हैं, यह देखकर तुम्हें कैसा लगता है ?' मैं कहता हूं, 'क्या मैं इतना जड़ हूं कि किसान-सभाओं की स्थापना से खुश न होऊं ?' किसान-सभाए बनानी चाहिए और गांव-गांव में बननी चाहिए। लेकिन इसके संबंध में दो वातों पर ध्यान देना चाहिए। डाली जबतक पेड़ से जुड़ी रहेगी, तभी तक उसे पोषण मिलेगा। अगल होते ही वह तो सूख ही जायगी, साथ ही पेड़ को भी नुकसान पहुंचायगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस वृक्ष की छाया में यह सभा हो रही है, उसे छोड़कर किसान-सभाएं यदि अलग हो जायं तो इससे उनका नुकसान तो होगा ही, साथ ही पेड़ की भी हानि होगी। इसलिए किसानों का सारा संगठन कांग्रेस से अविरुद्ध ही होना चाहिए। 'कांग्रेस के अनुकूल' से यह मतलब नहीं है कि वे सिर्फ अपने नाम में कही 'कांग्रेस' शब्द लगा दें। आजकल 'स्वराज्य' शब्द का महत्त्व है। इसलिए कई संस्थाएं उसे अपने नाम के साथ जोड़ती हैं—जैसे 'वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ'। मेरा मतलब इस तरह की अनुकूलता से नहीं है। 'कांग्रेस के अनुकूल' से मतलव यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आन्दोलन में कांग्रेस की शक्ति बढ़ाने की होनी चाहिए।

कांग्रेस के हाथों मे राजशक्ति आ गई है, इसका क्या अर्थ है ? दही में से सारा मक्खन निकाल लेने पर सरकार ने मट्ठे का चौथाई हिस्सा हमारे लिए रख दिया है। यही चार आना मट्ठा ग्यारहो प्रान्तों में बांट दिया है। उनमें से हमारी हुकूमत सात प्रान्तों में है। यानी ढाई आने मट्ठा हमारे पल्ले पड़ा है। आप पूछेंगे कि फिर हमने यह स्थिति क्यों मंजूर की ? मेरा जवाब है, 'फच्चर लगाने के लिए।' भारत के बड़े-बड़े नेताओं ने निश्चय किया कि ब्रिटिश सत्ता की धरन में यह जो ज़रा-सी दरार पड़ गई है, उसमें फच्चर लगा दी जाय। अगर इस उद्योग में फच्चर के ही टूट जाने का अंदेशा होता तो यह स्थिति कदापि स्वीकार न की गई होती। लेकिन उन्हें विश्वास है कि उनकी फच्चर फौलाद की बनी हुई है। पर याद रहे, केवल फच्चर लगा देने से ही काम

नहीं चलता, उसपर घन की चोटें भी मारनी पड़ती हैं। हमारे आंदोलन उस फच्चर पर लगाई जानेवाली चोटें हैं।

इसलिए हमें आन्दोलन बड़ी कुशलता से करना चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है, उनके काम में हमारे आंदोलन से मदद ही पहुंचे, इसकी सावधानी हमें रखनी चाहिए। हमारी मांगें ऐमी हों और ऐसे ढंग से पेश की जायं कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पायें, लेकिन उनका बल भी किसी तरह कम न होने पाये।

मैं क्रोधी आदमी हूं। क्रोधी और सच्चे आदमी की जीभ अक्सर खुजलाती रहती है। तुकाराम का यही हाल था। उन्होंने 'मेरा तो मुंह खुजलाता है' कहकर भगवान् को खूब खरी-खरी सुनाई। मैं यह नहीं कहता कि किसान-सभावाले कम जोर से बोलें, लेकिन तुकाराम के समान उनका जोर प्रेम का हो। तब उनका जोर उनके प्रेम का लक्षण माना जायगा। विना प्रेम का जोर दिखाने का परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लड़ना चाहते हैं, वे तो सुरक्षित रहेंगे और जिन्हें हमने चुनकर भेजा है. उनसे हम लड़ते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर वुद्धि चली गई तो सबकुछ चला गया। बोलने में हमेशा विवेक रहे। हम जो कुछ कहें, उसके सबूत और अंक पेश करें। स्वराज्य लड्डू तो है, लेकिन मेथी का लड्डू है। उसमें जिम्मेदारी का कड़वापन है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? इसलिए कि अड़चनों को दूर करने में अपनी बुद्धि लगाने का मौका हमें मिले। आज हमे कुछ भी नहीं करना पड़ता, इसलिए हम जड़ होगए हैं। कल अंग्रेज यहां से अपनी फौज हटा लें तो हम मुसीबत में पड़ जायंगे; लेकिन हम यह चाहते है, क्योंकि उस हालत में हमें अपनी अक्ल लगाने का मौका मिलेगा। हमें जो 'मंड़गिल' भात दिया जा रहा है, वह हम नहीं चाहते। हमें तो ज़रा करारी रोटी चाहिए। बुद्धिमत्ता के जो-जो क्षेत्र आज हमारे लिए बिल्कुल बन्द हैं वे थोड़े-बहुत खोल दिये गए हैं। इसलिए स्वराज्य की जिम्मेदारी का खयाल रखकर किसानों को अपने आंदोलन सोच-विचारकर समझदारी के साथ

चलाने चाहिए। अपने मुंह से निकालनेवाले शब्दों को उन्हें तौल-तौलकर कहना चाहिए। 'ब्रह्म-वाक्य' के समान 'किसान-वाक्य' भी भाषा का मुहावरा बन जाना चाहिए। सबको यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानों का वाक्य कभी असत्य या गैर-जिम्मेदार हो ही नहीं सकता। आज भी सरकार का हाथ कम मजबूत नहीं है, वह खासा मजबूत है; लेकिन उसे पकड़ने की हिम्मत हमने लोगों के बल पर की है। इसलिए लोगों के आंदोलन जोश से भरे हुए, उत्साहवर्धक, किंतु प्रेमयुक्त, विवेक और सत्य के अनुकूल तथा अपने प्रतिनिधियों की ताकत बढ़ाने की दृष्टि से होने चाहिए।

समर्थ रामदास ने कहा था कि आंदोलन में सामर्थ्य है, लेकिन हम समझ बैठे हैं कि बकवास में ही बल है। आजकल की हमारी सभाएं निरी बकवास होती हैं। एक समय था जब कांग्रेस सरकार के सामने केवल शिकायतें पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥

लेकिन बड़े होने पर! चालीस साल के बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिये', 'वह दीजिये', 'यह नहीं हुआ', 'वह नहीं हुआ', आदि शिकायतें सरकार के सामने पेश करते रहें, तो तब और अबकी हालत में अंतर ही क्या रहा? 'यह दीजिये', 'वह दीजिये'—'लेकिन दीजिये' कहां से? असली शक्ति तो ग्राम-संगठन है। जनता की शक्ति बढ़नी चाहिए। रो-धोकर भीख मांगने से थोड़े ही वह बढ़ेगी! हिंदुस्तान की आर्थिक तबाही अंग्रेजों के व्यापार के कारण हुई है। जबतक देहात की शक्ति नहीं बढ़ेगी, हिंदुस्तान संपन्न कैसे होगा? 'लगान माफ करो, लगान माफ करो', कहकर अपने दुखड़े रोने से क्या होगा? कांग्रेस की बदौलत हमें आंदोलन करने के लिए आधार, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ है, लेकिन हम तो यही समझने लगे हैं कि जैसे हम मंजिल पर ही पहुंच गए हों। बनचराई माफ हो गई, राजाजी को खादी के लिए दो लाख रुपये मिल गए। हमने समझा बस, अब तो मंजिल आ ही गई। इसीको मैं बकवास

कहता हूं। खादी के लिए दो लाख ! अजी, दो सौ करोड़ भी काफी न होंगे। सारे देश को हमें खादीमय बनाना है। दो लाख से क्या होता है ! लेकिन यह काम कोई भी भारत सरकार नहीं कर सकती, यह तो जनता को ही करना चाहिए।

हमारे देहाती भाई शहरियों से अच्छी तरह लड़ते भी तो नहीं। देहाती चीजों के भाव बहुत गिर गए हैं। शहरी चीजें महंगी बिकती हैं। देहातियों को चाहिए कि वे शहरी दूकानदारों से कहें, "घड़ी के दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपये में दे दो। मेरा मक्खन छः आने सेर मांगते हो ! तीन रुपये सेर दूंगा। इसके लिए मुझे इतनी मेहनत और खर्च जो करना पड़ा है !"

देहातों को सहयोग से पूंजी जुटाकर भांति-भांति के उद्योग शुरू करने चाहिए। इसके लिए कोई रुकावट नहीं है। सरकार से आपको उचित संरक्षण मिल सकता है। यदि हम ऐसा कुछ करेंगे तो हमारी हलचलें 'आंदोलन' के नाम की अधिकारिणी होंगी; वरना सारी हलचलें निरी बकवास और हड़बडाहट ही सिद्ध होगी। हरएक गांव को एक छोटा-सा राष्ट्र समझकर वहां की संपत्ति बढाने का सामुदायिक दृष्टि से विचार होना चाहिए। गांव के आयात और निर्यात पर गांव की चुंगी होनी चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकार को बल प्रदान कर सकेंगे, वरना हमारे आंदोलन फिजूल हैं।

: ३३ :

राजनीति या स्वराज्य-नीति

एक भिखारी सपने में राजगद्दी पर बैठा। उसे यह कठनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊं ! बेचारा सोचने लगा, 'प्रधान मंत्री से मैं क्या कहूं ? सेनापति मेरी कैसे सुनेगा ?' आखिर भिखारी का ही तो दिमाग ठहरा !

वह कोई निर्णय न कर सकता था। कुछ देर के बाद उसकी नींद ही खुल गई और सारे प्रश्न हल होगए।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिंदुस्तान को स्वराज्य मिल चुका है, लोगों ने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हें एकदम विश्वरूप-दर्शन होगया। 'बाह्य आक्रमण का क्या करें? भीतरी बगावत और अराजकता का सामना कैसे करें?' एक ने कहा, 'हिंसा किसी काम नहीं आयगी।' दूसरे ने कहा, 'अहिंसा के लिए हमारी तैयारी नही है।' तीसरा बोल उठा, "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पड़ेगा, करेंगे। फिलहाल हम गांधीजी को मुक्त कर देंगे। सरकार के साथ तो हमारा अहिंसात्मक सहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वर की कृपा से सरकार के दिल में सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्य का शब्दोदक (दान का शाब्दिक संकल्प) हमारे हाथ में दे दिया तो हम उसके युद्ध-यंत्र की सहायता करेंगे। इंग्लैंड के पास शस्त्र-सामग्री है और हमारे पास जन-बल है; दोनों को मिलाने से बहुत-सा सवाल हल हो जायगा।' तात्पर्य यह कि हमने अभी स्वराज्य हासिल नहीं किया है, इसलिए विचारों की ये उलझनें पैदा हो रही हैं। अगर हमने अहिंसा की शक्ति से स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता, या प्राप्त करनेवाले हों—और कार्य-समिति तो साफ-साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हमारे पास अहिंसा के सिवा दूसरी शक्ति नहीं है—तो उसी शक्ति द्वारा आज की सारी समस्याएं कैसे हल की जा सकती हैं, यह हमें सूझता या सूझेगा। आज तो श्रद्धा दृढ करने का सवाल है। यह कदम-ब-कदम अर्थात् क्रमशः ही होती है। यही ज्ञान की महिमा है।

लेकिन आज क्या हो रहा है? हमारे नेता गिडगिड़ाकर सरकार से यह विनती करते हुए दीख पड़ते हैं कि "गांधीजी का त्याग करना हमारे लिए आसान नहीं था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी सहयोग का हाथ आपकी तरफ बढ़ाया है। सरकार हमें स्वराज्य का वचन दे दे और हमारा सहयोग ले ले।"

इस विचित्र घटना पर ज्यों-ज्यों विचार करता हूं त्यों-त्यों विचार को

अधिकाधिक व्यथा होती है। मान लीजिये, सरकार ने यह विनती स्वीकार करली और सरकार के युद्ध-यंत्र में कांग्रेस दाखिल होगई, तो जिस क्षण वह स्वराज्य का वचन प्राप्त करती है, उसी क्षण स्वराज्य के अर्थ को वह सैकड़ों वर्ष दूर धकेल देती है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्ध में योग देने का निश्चय कर लिया, उसने शुरू-शुरू में न्याय-अन्याय का जो कुछ थोड़ा-बहुत विचार किया हो सो किया हो; लेकिन एक वार युद्ध-चक्र में दाखिल हो जाने के बाद फिर तो न्याय-अन्याय की अपेक्षा बलाबल का विचार ही मुख्य हो जाता है।

हिंसा का शस्त्र स्वीकार करने के बाद बलाबल का ही विचार मुख्य है। हमारे पक्ष में अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिंदुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आज के यांत्रिक संसार की हिंसा में शामिल होगा तो उसे न्याय और लोकतंत्र की भाषा तक छोड़ देनी होगी।

ब्रिटेन से आज हिंसात्मक सहयोग करने के लिए तैयार होने का अर्थ केवल अहिंसा का परित्याग ही नहीं है, बल्कि हिंसा के गहरे पानी में एकदम उतर जाना है। 'हम हिंदुस्तान के बाहर आदमी नहीं भेजेंगे', यह कहना मुमकिन नहीं; क्योंकि हिंदुस्तान का बचाव-जैसी कोई अलग चीज ही नहीं रह जाती। अफ्रीका का किनारा, भूमध्यसागर आदि सबको हिंदुस्तान की ही सरहदें मानना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा नहीं।

अर्थात् कांग्रेस की बीस साल की कमाई और उसकी बदौलत संसार में पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गई; लेकिन साथ-साथ हिंदुस्तान की हजारों वर्ष की कमाई भी अकारथ गई। हिंदुस्तान का जितना इतिहास ज्ञात है, उसमें हिंदुस्तानी अपने देश के बाहर स्वेच्छापूर्वक संहार के लिए गये हों, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं। यह भी संभव नहीं कि हम सिर्फ बचाव के लिए हिंसा करें, हमले के लिए नहीं। कोई भी मर्यादा नहीं रह सकती। 'अमर्यादा-पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होंगे, और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे तभी सफल होंगे।

और फिर संसारभर से दुश्मनी मोल लेने का साहस हम किस बिरते पर

कर सकते हैं ? आज जितनी दूर तक दिखाई देता है, उतने का विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इग्लैंड के बल पर । इस बात पर भी विचार करना जरूरी है । जिस राष्ट्र में जमीन का औसत फी-आदमी एक एकड़ है उस राष्ट्र के लिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रों को लूटने का ख़याल छोड़ दे तो—चाहे वह कितना ही ज़ोर क्यों न मारे, फौज पर ज्यादा खर्च करना नामुमकिन है। और सौभाग्य से हिंदुस्तान की आर्थिक परिस्थिति में कितनी ही उन्नति क्यों न हो, उसके लिए यह बात संभव भी नहीं है ।

'हिंदुस्तान के लिए बहुत बड़ी फौज रखना मुमकिन नहीं, इसलिए, उसे बिना फौज का रास्ता ही आसान पड़ेगा'—यह बात जवाहरलालजी भी कभी-कभी कहा करते हैं । इस तरह का राष्ट्र स्वाश्रयी (अपने भरोसे) रहकर शस्त्र-निर्माण-कला का प्रयोग नहीं कर सकता, फलतः उसे पराश्रित होकर (दूसरों के भरोसे ही) उस कला के प्रयोग करने होंगे। इसका अर्थ क्या होगा ?—इंग्लैंड से आज हम निरे स्वराज्य का हीं नहीं, बल्कि बिल्कुल पक्के—पूर्ण स्वराज्य का वचन ले लेते हैं और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सब्याज (ब्याज-सहित) लौटा लेते हैं । भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश देने के बाद उससे कहा, 'तू अपनी इच्छा से जो कुछ करना हो सो कर !' और फिर कहा, 'सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ !' दोनों का सम्मिलित अर्थ यह है कि 'तू अपनी खुशी से मेरी शरण आ !' ईश्वर के लिए भक्त को यही करना चाहिए । इंग्लैंड के लिए हमें भी वही करना होगा ।

नैष्ठिक अहिंसा को ताक पर रखकर सरकार से हिंसात्मक सहयोग—अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसानिष्ठ लोगों के हिंसात्मक सहयोग की स्वीकृति—की नीति की यह सारी निष्पत्ति ध्यान में लाने पर यही कहना पड़ता है कि शस्त्रास्त्र और यादवों की सेना लेकर कृष्ण को छोड़नेवाले अज्ञ दुर्योधन का ही अनुकरण हम कर रहे हैं । इसके बदले अगर कांग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे, अनायास मिलनेवाले स्वराज्य की, आशा का ही नहीं बल्कि कल्पना का भी त्याग कर दे, अपने सहयोग का अर्थ नैतिक सहयोग घोषित कर दे, और स्वराज्य का संबंध वर्तमान युद्ध से न जोड़कर जिस

प्रकार मिट्टी से श्री गणेशजी की मूर्ति का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्ति से यथासमय अपने अभ्यंतर से स्वराज्य का निर्माण करने की कारीगरी अख्तियार कर ले, तो क्या यह सब प्रकार से उत्तम नहीं है ?

ऐसा स्वराज्य किसीके टालने से टल नहीं सकता। सूर्यभगवान् के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशामें उदय होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिम तक सभी दिशाओं में फैलती है। स्वराज्य के विषय में भी यही होगा। उसका जन्म तो हिंदुस्तान में होगा, लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनिया के लिए मुक्ति का रास्ता खुल जायगा। उसका शत्रु पैदा होने से पहले ही मर जायगा। भीतरी दंगे-फसाद की संभावना मिटाकर ही उस स्वराज्य का आविर्भाव हुआ होगा, इसलिए भीतरी कलह के निवारण का सवाल सामने आयेगा ही नहीं। यही हाल बाह्य आक्रमण का भी होगा। या अगर यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओं के अवशेष कायम रहेंगे तो भी आज उनको हल करना जितना कठिन मालूम होता है, उतना नहीं मालूम होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देर में क्यों न मिले तो भी वही जल्दी-से-जल्दी मिलेगा; क्योंकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

लेकिन कुछ लोग यह शंका करेंगे कि हिंदुस्तान को क्या सचमुच अहिंसा से स्वराज्य मिलेगा ? यहां इस शंका का विचार करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि यह शंका ही नहीं है। यह तो निष्क्रिय लोगों का निश्चय है। वे यह जानते हैं कि हिंदुस्तान के लिए अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करना संभव नहीं और उनका यह विश्वास है कि अहिंसा से कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नहीं सकता। इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्य की वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है। तब उनके पीछे पड़ने से क्या फायदा ! इसके अलावा, कांग्रेस आजतक यह मानती है कि संगठित अहिंसा ही स्वराज्य का एकमात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगों के ही लिए यह लेख है।

लेकिन कांग्रेसवालों के दिमाग में कुछ दूसरी तरह की गड़बड़ी पैदा हो रही है। एक व्यवस्थित सरकार का सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और

एकाएक होनेवाले बाहरी हमले या अंदरूनी लड़ाई-झगड़ों का निवारण करना, दोनों उन्हें बिल्कुल भिन्न कोटि की समस्याएं प्रतीत होती हैं। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी-फूटी अहिंसा से साध सकते हैं, लेकिन दूसरी बात बलवानों की नैष्ठिक अहिंसा के बिना सध ही नहीं सकती। वह नैष्ठिक अहिंसा हम कहां से लाये ?

मेरे नम्र विचार में यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठक अहिंसा के बिना असभव है, उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसा के बिना असंभव है। अबतक दुर्बलों की अहिसा का एक प्रयोग किया। उसकी बदौलत थोड़ी-बहुत सत्ता मिली या मिलने का आभास हुआ। मैं 'आभास' कहता हूं, कारण कांग्रेस के शासन-काल में जो-जो विचित्र घटनाएं घटीं, उन्हें हम जानते ही हैं। फिर भी, उसे आभास कहने के बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोड़ी-बहुत सत्ता प्राप्त करली। परंतु सत्ताभास अथवा इस अल्प सत्ता में—और जिसे हम स्वराज्य कहते हैं तथा जिसके पीछे 'पूर्ण' विशेपण लगाये बिना हमारी आत्मा को कल नहीं पड़ती, उस हमारे घोषित ध्येय में, ज़मीन-आसमान का अन्तर है। यह अन्तर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसा से नहीं काटा जा सकता। उसके लिए बलवानों की पराक्रमी अहिंसा की ही जरूरत होगी, यह समझ लेने का समय अब आगया है। जितनी जल्दी हमारी समझ में यह बात आ जायगी, उतनी ही जल्दी हमारे विचारों की गुत्थियां सुलझ जायंगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजी की वह मूर्ति है जिसका निर्माण हमें मिट्टी में से करना है। नदी-प्रवाह के साथ बहकर आने वाला वह नर्मदा-गणेश नहीं है। हमारे कुछ बुजुर्गों और बड़े-बूढ़ों की यह समझ होगई है कि हमने जो कुछ थोड़ा-बहुत अहिंसा का प्रदर्शन किया है, उससे मानो भगवान् प्रसन्न होगए हैं और उन प्रसन्न भगवान् ने हमारे संकट-मोचन के लिए युद्ध भेज दिया है। शुद्ध भाव से किये हुए हमारे उस अल्पतम प्रयत्न और भगवान् की इस अपरंपार कृपा के संयोग से अब

हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है । इस कल्पना के भंवर-जाल में पड़ने के कारण हम इस गफलत में है कि हमारी कमजोर अहिंसा भी हमें स्वराज्य में बरबस धकेलकर ही रहेगी। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इंग्लैंड ने सचमुच हमें स्वराज्य दे भी दिया तो भी वास्तव में स्वराज्य नहीं मिलता, अपनी यह राय मैं ऊपर पेश कर चुका हूं ।

तब यह सवाल उठता है कि 'क्या आप व्यवस्थित सरकार से लोहा लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकता का प्रतीकार करना, इन दो बातों में कोई फर्क ही नही करते ?' उत्तर यह है—'करते हैं और नहीं भी करते ।' एक क्षेत्र में दुर्बल अहिंसा से काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्र में बलवती अहिंसा की आवश्यकता होगी, इस तरह का कोई फर्क हम नहीं करते । यदि स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य हो तो दोनो क्षेत्रों में बलवती अहिंसा की आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकार से टक्कर लेने में उसकी जो कसौटी होगी, उसने भिन्न प्रकार की कसौटी दूसरे क्षेत्रों के लिए होगी, यह फर्क हम करते है । उसमें भी मैं भिन्न प्रकार की कसौटी करता हूं । अधिक कड़ी कसौटी भी निश्चित रूप से नही करता और न 'कम कड़ी' ही करता हूं ।

इसपर कुछ लाग कहते हैं, 'तुम्हारी सारी बातें मंजूर हैं, लेकिन व्यक्ति की हैसियत से। नैष्ठिक अहिंसा मे हमारी श्रद्धा है । हम उसकी तैयारी भी करेंगे; लेकिन हम जनता के प्रतिनिधि हैं, इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नही लड़खड़ाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है । क्या आज की स्थिति में जनता के लिए अहिंसा हितकर होगी ? हमारी राय में न होगी ।'

इसके जवाब मे दूसरे कहते है, 'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से फ़ैसला करा लें ।'

मैं कहता हूं, 'यह सारी विचारधारा ही अनुपयुक्त है । आम जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड़ से की जाती है, वह जनता—हिंदुस्तान की जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव-समूहों से बनी हुई जनता—बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए । उसे

बरबस हिंसा के दल में धकेलना या उसकी अहिंसकता का सबूत 'अखिल भारतीय' नाम धारण करनेवाली कांग्रेस-कमेटी से मांगना नाहक समय नष्ट करना है। हिंदुस्तान की जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नहीं है; वह 'वाद' तो उसके नाम पर विद्वान् सेवकों को खड़ा करना है। वह 'अहिंसाकारी' भी नहीं है। यह कार्य उसकी तरफ से उसके सत्याग्रही सेवकों को करना है। उन दो को मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसावादी है?' और 'क्या तू अहिंसाकारी है?' ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूप से अहिंसा में हमारी श्रद्धा हो तो अहिंसा से शक्ति का निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य में जनता का उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्न के विषय में जनता के मत-परिज्ञान की जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।

इसपर फिर कुछ लोग कहते हैं, 'यह भी माना, लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरंत का है। अगर अहिंसा का आग्रह लेकर बैठ जायंगे तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और यथासंभव सिद्धि भी प्राप्त कर लेंगे; लेकिन वर्तमान काल में तो हम बिल्कुल ही एक कोने में पड़े रहेंगे। दूसरे आगे आयंगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीति में हम पीछे छूट जायंगे।'

कोई हर्ज नहीं। हमें राजकरण (राजनीति) से सरोकार ही नहीं। हमें तो स्वराज्यकरण (स्वराज्य-नीति) से मतलब है। जैसा कि गांधीजी ने लिखा है, 'जो आगे बढ़ेंगे, वे तो भी हमारे भाई-बंद ही होंगे।' मैं तो कहता हूं कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधना में ईश्वर से हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोने में फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोह में न डाले। हम स्वराज्य-साधक हैं, हमें राज्य-कामना का स्पर्श न हो।

'नत्वहं कामये राज्यम्।'

२२-७-४०

: ३४ :

सेवा व्यक्ति की; भक्ति समाज की

बीस बरस से मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी-अवस्था में था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा की ही थी। यों कह सकते हैं कि जीवन में मैंने सिवा सार्वजनिक सेवा के न कुछ किया है, न करने की इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगों ने की है वैसी मैंने नहीं की। सवेरे एक भाई ने मुझसे पूछा, 'आप कांग्रेस में नहीं जायंगे क्या ?' मैंने कहा कि, 'मैं तो कांग्रेस में कभी नही गया।' सेवा की मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेस में जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही, पर यह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेस की प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगों में हूं जो मूक सेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। मेरी सेवा का उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भाव से ही मैं सेवा करता हूं और बीस साल से प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करने की संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, 'सेवा व्यक्ति की; भक्ति समाज की।' व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पना-मात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करनेवाला लड़का दुनिया-भर की सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मा तक पहुंचे। आजकल सेवा की कुछ अनोखी-सी पद्धति देखने में आती है। सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना

है, अपने को सेवा में खपा देना है, तो किसी देहात में चले जाइये। मुझसे एक भाई ने कहा कि 'बुद्धिशाली लोगों से आप कहते हैं कि देहात में चले जाइये। विशाल बुद्धि के विस्तार के लिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां है?' मैंने कहा कि, 'ऊंचाई तो है, अनंत आकाश तो है! वह लंबा सफर नहीं कर सकता, पर ऊंचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है!' संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़ा विज्ञानवेत्ता भी आकाश की ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहात में हम लंबा-चौड़ा नहीं, पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से-ऊंचे चढ़ने का अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा वहां खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणी की सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्र के सारे प्रश्न देहात के व्यवहार में आ जाते हैं। जितना समाजशास्त्र राष्ट्र में है, उतना एक कुटुंब में भी आ जाता है, देहात में तो है ही। समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए गांव में काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वास को बुद्धि का अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़-विवाह प्रचलित होने से भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाह से बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाह में भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखने में नहीं आता और बाल-विवाह के भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शांति से रहते हैं। विवाह-संस्था में संयम की पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सबकुछ कर लिया। विवाह का उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान की राजनीति का नमूना भी देहात में पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहात की भी जनता को हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। वहां के अर्थशास्त्र को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ होगया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनों के बीच रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धि का उनके लिए उपयोग करना है, निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारत के देहातों का अनुभव और देशों की तरह चंद सदियों का नहीं, कम-से-कम बीस हजार वर्ष का है। वहां जो

अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडार की तरह द्रव्य-भंडार भी वहीं से पैदा करना है और पूरी तरह से निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते हैं कि ये सुधारक तो गांव को बिगाड़ रहे हैं; सवर्णों के साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनों के साथ है। सवर्णों को अपनी प्रवृत्ति की ओर खींचने और उनकी शंका दूर करने के विषय में क्या सोचा गया है?

अस्पृश्यता-निवारण का काम हमें दो प्रकार से करना है: एक तो हरिजनों की आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्ति में सुधार करके और दूसरे हिंदू-धर्म की शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूप में लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं, यह हम न मानें; वे अज्ञान में हैं, ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट-बुद्धि नहीं हैं। यह तो उनके विचारों की संकीर्णता है। प्लेटो ने कहा था— 'सिवा ग्रीक लोगों के मेरे ग्रंथों का अध्ययन और कोई न करे।' इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य की आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्य की आत्मा एक देह के अंदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियों के प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनों के साथ-साथ जहां जब अवसर मिले, सवर्णों की भी सेवा करें। एक भाई हरिजनों का स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जायं, उसकी दयालुता का लाभ उठायें। उसकी मर्यादा को समझकर उससे बात करें। थोड़े दिन में उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अंतर का अंधकार दूर हो जायगा। सूर्य की तरह हमारी सेवा का प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाश में हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकार की लड़ाई तो एक क्षण में ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसा का हो, प्रेम का हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा धकेल कर अंदर नहीं चला जाऊंगा; मैं तो सूर्य की किरणों का अनुकरण करूंगा। दीवार में, छप्पर में या किवाड़ में कहीं ज़रा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें

चुपचाप अंदर चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार है, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफा का एक लाख वर्ष का भी अंधकार एक क्षण में ही प्रकाश से दूर हो जायगा, लेकिन यह होगा अहिंसा के ही तरीके से। सनातनियों को गालियां देना तो अहिंसा का तरीका नहीं है। हमें मुंह से खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणी की कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आज की नहीं, बहुत पुरानी है। संतों का जीवन अपने विरोधियों के साथ झगड़ने में ही बीता, पर उनके झगड़ने का तरीका प्रेम का था। जिस भगवान् ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रतिपक्षियों को भी दी है। आज से पंद्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतों ने तो आत्मविश्वास के साथ काम किया है। वाद-विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं। हमारे प्रचार-कार्य का सेवा ही विशेष साधन है। दूसरों के दोष बताने और अपने गुण सामने रखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चे के दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवा का होता है।

: ३५ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

जब हम सेवा करने का उद्देश्य लेकर देहात में जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्य का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरों में रहने के आदी होगए हैं। देहात की सेवा करने की इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजी से व्यापार किस तरह शुरू करें ? मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहात में जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे

समाज की तरफ। सारे समाज के समीप पहुंचना संभव ही नहीं है। रणभूमि में लड़नेवाले सिपाही से अगर हम पूछें कि किसके साथ लडता है तो वह कहेगा 'शत्रु के साथ।' लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्ति पर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परंतु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टर के पास जितने रोगी जाते हैं, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरएक रोगी का वह खयाल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लास को पढ़ाता है, पर हरएक विद्यार्थी का वह ध्यान नही रखता। ऐसी सेवा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियों के व्यक्तिगत सपर्क में आयगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियों पर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां, इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियों की सेवा करने में अन्य व्यक्तियों की हिंसा, नाश या हानि न हो। देहात में जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्त्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियों की ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवन में प्रवेश करने का यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है, उन्होंने मेरे जीवन पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजी के लेख मुझे कम ही याद आते है, लेकिन उनके हाथ का परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है; और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवा का प्रभाव। व्यक्तियों की सेवा में समाज-सेवा का निषेध नहीं है। समाज गीता की भाषा में अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः व्यक्ति की सेवा करना आसान है।

दूसरी और सूचना मैं करना चाहता हूं : हमें देहातियों के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके सामने राष्ट्र-धर्म की बातें करने से लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। इसमें भी वही बात है, जो व्यक्ति-सेवा के

विषय में मैंने ऊपर कही है। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है; राष्ट्र-धर्म, निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना मां को सिखाना नहीं पड़ता। आपस के झगड़े मिटाना, गांव की सफाई तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आयात-निर्यात की वस्तुओं और ग्राम के पुराने उद्योगों की जांच करना, नये उद्योग खोज निकालना इत्यादि गांवों के जीवन-व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली हरएक बात ग्राम-धर्म में आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट होजाने से देहात की बड़ी हानि हुई है। झगड़े निपटाने में पंचायत का बहुत उपयोग होता था। अभी के असेंबली के चुनाव से हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियों को राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पं० मालवीयजी के बीच मतभेद होगया, अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे! उसके मन में दोनों ही नेता समान रूप से पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवा में हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियों की भांति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि **'ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्'**—हमारे ग्राम में बीमारी न हो।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूं, वह है सेवक के रहन-सहन के संबंध की। सेवक की आवश्यकताएं देहातियों से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवक को दूध की आवश्यकता है, दूध के बिना उसका काम नहीं चल सकता, और देहातियों को तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता, तो भी देहात में रहकर वह दूध ले सकता है; क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहात में पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु सुगन्धित साबुन देहात में पैदा होनेवाली चीज नहीं है, इसलिए साबुन को विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवक को उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखने की बात लीजिये। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवक को तो उन्हें कपड़े साफ रखने के लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहर से साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहात में

कपड़े साफ रखने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं, या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगों को उसके विषय में समझाना सेवक का धर्म हो जाता है। देहात में उपलब्ध होनेवाले साधनों से ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तु का उपयोग करने में सेवक को विवेक और संयम की आवशकता तो रहती ही है। अखबार का शौक देहात में पूरा न हो सकेगा।

मैं जो खास बातें यहां कहना चाहता था, वे तो मैंने कह दीं। अब दो-तीन और बातें कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। खादी-प्रचार के कार्य में अभीतक चरखे का ही उपयोग हुआ है। एक लाख के इनामवाले चरखे की अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक लाखका चरखा कहता हूं; लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाख का चरखा है और वह है तकली। मैं सचमुच ही उसे सवा लाख का चरखा मानता हूं। खादी-उत्पत्ति के लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए तकली ही उपयुक्त है। नदी का पाट चाहे कितना ही बड़ा हो, वह वर्षा का काम नहीं दे सकता। नदी का उपयोग तो नदी के तट पर रहनेवाले ही कर सकते हैं, पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षा के समान है। जहां भी वह चलेगी, वहां वस्त्रस्वावलम्बन का कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहार के भाई एक कहते थे कि वहां मजदूरों के लिए फी तकली का उपयोग हो रहा है। तकली पर कातनेवाले को वहां हफ्ते में तीन-चार पैसे मिल जाते हैं। लेकिन उनके कातने की जो गति है, वह तीन या चार गुनी तक बढ़ सकती है। गति बढ़ाने से मज़दूरी भी तीन या चार या पांच गुनी तक बढ़ सकती है। यह कोई मामूली बात नही है। हमारे देश में एक व्यक्ति को १४-१५ गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ़ एक सौ तार कातने की ज़रूरत है, यह काम तकली पर आध घंटे में हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है पर तकली तो हमेशा ही आपकी सेवा में हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सवा लाख का चरखा मानता हूं।

देहात में सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिन तक यह

काम करते रहने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्वधर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर हमें उसका दुःख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न! यह मेरा काम है, दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा, उसको सिंहावलोकन करने की, यानी यह देखने की कि मेरे पीछे मदद के लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियों की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमें सेवक का स्वार्थ भी है, क्योंकि मार्ग की गन्दगी का असर उसके स्वास्थ्य पर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरण में एक बात का हमेशा ख़याल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियो को पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलम्बी बनाना है। उनको स्वामिभक्त तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोग की दवाइयां देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पायं। यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है।

: ३६ :

साहित्य उल्टी दिशा में

पिछले दिनों एक बार हमने इस बात की खोज की थी कि देहात के साधारण पढ़े-लिखे लोगों के घर में कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा हुआ साहित्य) पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकार का वाङ्मय पढ़ा जाता है—

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक

गल्प, कहानियां-आदि, (४) भाषा में लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ, और (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें ।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगों के हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकार के वाङ्मय की उन्नति करनी चाहिए ।

पारसाल का जिक्र है। एक मित्र ने मुझसे कहा, 'मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है, यह ज्ञानदेव ने दिखाया; और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आज के समाचारपत्र बता रहे हैं !' (साहित्य-सम्मेलन के) अध्यक्ष की आलोचना और हमारे मित्र के उद्गार का अर्थ **'प्राधान्येन व्यपदेशः'** सूत्र के अनुसार निकालना चाहिए; अर्थात् उनके कथन का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरशः प्रशांत महासागर की तह तक जा पहुंचे हैं । मोटे हिसाब से परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनों से लेना चाहिए । इस दृष्टि से दुःखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है ।

लेकिन इसमें दोष किसका है ? कोई कहता है कि संपादकों का, कोई कहता है पाठकों का, कोई कहता है पूंजीपतियों का । गुनाह में तीनों ही शरीक हैं, और 'कमाई का हिस्सा' तीनों को बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं । परन्तु मेरे मत से, अपराधी ये तीनों भले ही हों, अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पाप का वास्तविक 'धनी' है । वह कौन है ?—साहित्य की व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचि-भ्रष्ट साहित्यकार ।

'विरोधी विवाद का बल, दूसरों का जी जलाना, जली-कटी या तीखी बातें कहना, मखौल (उपहास), छल (व्यंग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श), आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, संदिग्धता, प्रतारणा (कपट)'—ज्ञानदेव ने ये वाणी के दोष बताये हैं । परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणों को 'वाग्भूषा' या साहित्य की सजावट मानते हैं । पिछले दिनों एक बार रामदास की 'ओछी तबीयतवालों को विनोद भाता है', इस उक्ति पर कई साहित्यिक बड़े गरम होगए थे । रामदास के आशय पर

ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेने के बदले, इस लोगों ने यह आविष्कार किया कि जीवन और साहित्य में विनोद का जो स्थान है, रामदास वही नहीं समझ पाए थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेव ने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्य की परिभाषा के अनुसार—ज्ञानदेव के अज्ञान का ही फल समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदास को राष्ट्र-कल्याण की लगन थी और हमारे विद्वानों को चटपटी भाषा की चिन्ता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनों में मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, पर साहित्य जीता रहे।

'हे प्रभो, अभी तक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है। तो क्या, मेरे देव! मैं केवल कवि ही बनकर रहूं?'—इन शब्दों में तुकाराम ईश्वर से अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकाराम के इस वचन में काव्य कहांतक सधा है! हमारी पाठशालाओं की शिक्षा का सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबन्ध पढ़ा था। उनमें लेखक ने तुलसीदास की शेक्सपियर से तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जे का है, इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदास की रामायण हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों के लिए—देहातियों के लिए भी—जीवन की मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है, उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रण की शैली की दृष्टि से करेगा। शायद कुछ लोगों को मेरे कथन में कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।

शुकदेव का एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है—'जिससे जनता का चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।' जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगार से लेकर बीभत्स तक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हों। साहित्य की यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिये, उसमें कर्तव्य-शून्यता मिला दीजिये, फिर कोई भी

बतला दे कि आज के मराठी समाचारपत्रों में जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्य का निर्माण हो सकता है ?

: ३७ :

लोकमान्य के चरणों में

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्य स्मरण है। आज तिलक की पुण्यतिथि है।

१६२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे अन्दर नहीं रहे। उस समय मै बंबई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था। परन्तु डाक्टर ने कहा, 'अभी कोई डर नहीं है।' इसीलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानों कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस होगए। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धा के कारण चढ़ा रहा हूं।

तिलक के विषय में जब मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुंह से शब्द निकालना कठिन हो जाता है, गद्‌गद हो उठता हूं। साधु-सन्तों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने चित्त का भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्ति का संचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचंड बाढ़ आ जाती है, वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह बड़प्पन मेरा नहीं है, बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के

नाम का है। मैं तुलना नहीं करता।' क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते है; परन्तु जिनके नाम-स्मरण में ऐसी स्फूर्ति देने की शक्ति है, उन्हींमें से तिलक भी हैं। मानों उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है। रामनाम को देखिये। कितने जड़ जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार होगया, इसकी गिनती कौन करेगा! अनेक आन्दोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण—इनमें से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा, जितना कि रामनाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रों का उदय हुआ और अस्त हुआ, राज्यों का विकास हुआ और लय हुआ, किन्तु रामनाम की सत्ता अबाधित रूप से विद्यमान है। तुलसीदास जी ने कहा है—**कहउं नाम बढ़ राम तें**। 'हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियों ने और उस जमाने के नर-वानरों ने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाम में है, वह तेरे रूप में नहीं। हे राम! तूने शबरी, जटायु आदि का उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं। परतु तेरे नाम ने अनेक खलजनों का उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।'

शबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद-बिदित गुन-गाथ।

तुलसीदासजी कहते हैं, राम की महिमा गानेवाले मूढ हैं। राम ने तो बड़े-बड़े सेवकों का ही उद्धार किया। परन्तु नाम ने ? नाम ने असंख्य जड़ मूढों का उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी! वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवों का, इन भक्तजनों का राम ने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई! परन्तु राम-नाम तो दुर्जनों को भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है ? मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषय में दूसरों का मत जानने की जरूरत नहीं। नाम से उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थ में खपाया, उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्य की विशेषता है । आहार-विहारादि दूसरी बातों में मनुष्य और पशु समान ही हैं । परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु से भी नीच बन सकता है,उसी प्रकार पराक्रम से, पौरुष से, वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है । मनुष्य में ये दोनों शक्तियां हैं । खूब मांस और अंडे वगैरह खा-कर, दूसरे प्राणियों का भक्षण कर वह शेर के समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है, या दूसरों के लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है । मनुष्य अपने लिए अनेकों का घात करके पशु बन सकता है; या अनेकों के लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है । पशु की शक्ति मर्यादित है, उसकी बुराई की भी मर्यादा है; लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नहीं है । वह पशु से भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है । जो गिरता है, वही चढ़ भी सकता है । पशु अधिक गिर भी नहीं सकता, इसलिए चढ भी नहीं सकता । मनुष्य दोनों बातों में पराकाष्ठा कर सकता है । जिन लोगों ने अपना जीवन सारे संसार के लिए अर्पण कर दिया, उनके नाम में बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है । उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है । हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं—**वसिष्ठं तर्पयामि, भारद्वाजं तर्पयामि, अग्निं तर्पयामि।** इन ऋषियों के बारे में हम क्या जानते हैं ! क्या सात या आठ सौ पन्नों में उनकी जीवनी लिख सकते हैं!शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है । यह नाम ही तारक है और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारे के समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा । मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षों के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-कुछ नहीं रहेगा, किन्तु इतिहास के आकाश में उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा ।

हमें महापुरुषों के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्त्व चारित्र्य का है । शिवाजी महाराज ने सौ-दो सौ किले बनाकर स्वराज्य प्राप्त किया, इसलिए आज यह नहीं समझना

चाहिए कि उसी तरह के किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन विताया और लड़ाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिए। जिस वृत्ति से शिवाजी ने काम किया, उस वृत्ति से हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय का स्वरूप हमारे काम का नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी, वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणों का स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिन्दुओं ने चरित्र का बोझ छोड़कर नामस्मरण पर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियों का सारा चरित्र दिमाग में रखने की कोशिश करें तो उसीके मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणों का स्मरण करना है, चरित्र का अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कों ने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है, वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तक में बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहां-तहां से बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक में लिखा था कि वे एक जंगल में गये; फिर क्या था—ये भी एक जंगल में पहुंचे। पुस्तक में लिखा था कि उन लड़कों को जंगल में एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहां से लायें? आखिर उनमें से जो एक बुद्धिमान् लड़का था, वह कहने लगा, 'अरे भाई, हमने तो शुरू से आखिर तक गलती ही की। हम उन लड़कों की नकल उतारना चाहते हैं, लेकिन यहां तो सबकुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़-कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शुरू में ही गलती हुई।'

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्र का तो विस्मरण होना चाहिए, केवल गुणों का स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलने के लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। लड़कों के ध्यान में वह सब-का-सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उनपर फिजूल मार भी पड़ती है। इतिहास से हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजों के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आज का श्राद्ध

मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे भी उनका गुण स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे, लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठा-पन, सबकुछ भूल गया है—यह चमत्कार है! इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान देना चाहिए। इस अवसर पर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण में मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहाती है। यों राम का सारा चरित्र श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अन्दर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परन्तु आज राष्ट्र में राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेज का संचार दीख पड़ता है, वह न दिखाई देता। गहराई से देखें तो आज राम का अवतार हो चुका है। यह जो राम-लीला हो रही है, इसमें कौन-सा हिस्सा लूं, किस पात्र का अभिनय करूं, यह मैं सोचने लगता हूं। राम की इस लीला में मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं, नहीं, भरत की कर्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्व का बोध, उनकी दया-लुता और त्याग कहां से लाऊं? हनुमान का तो नाम भी मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गांठ में पुण्य नहीं है। इसलिए क्या रावण बनूं? ऊऽऽहूं! रावण भी नहीं बन सकता। रावण की उत्कटता, महत्त्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौन-सा स्वांग लूं? किस पात्र का अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है, जो मैं बन सकूं। जटायु, शबरी? —ये तो सुसेवक थे। अन्त में मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर

बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्या का अभिनय करूं। जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतने में वह अहल्या बोल उठी, 'सारी रामायण में सबसे तुच्छ जड़ मूढ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे? राम की यात्रा में तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारों पत्थर थे, उनका क्यों नहीं उद्धार हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्या की बात मुझे जंच गई। परन्तु अहल्या के पत्थर में गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणों की भी नहीं। अहल्या के समान पत्थर और राम के चरणों-जैसे चरण, दोनों का संयोग चाहिए। न तो राम के चरणों से दूसरे पत्थरों का ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरे के चरणों से अहल्या का ही।

इसे मैं 'अहल्या-राम-न्याय' कहता हूं। दोनों के मिलाप से काम होता है। यही न्याय तिलक के दृष्टांत पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व, महा-राष्ट्रीयत्व, आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य स्मृति मनाता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण दोनों का स्थान है। इस चमत्कार के दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनता का। हम इन गुणों का ज़रा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया, उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बम्बई में गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहां-कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न किया हो, वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं महाराष्ट्र का हूं। उनमें पृथक्ता की, भेद की, भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और जो दूसरे मेरी दृष्टि के सामने आते हैं, वह थे

महर्षि न्यायमूर्ति रानडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब में रखा और सारे हिंदुस्तान के लिए लड़ते रहे। 'हिंदुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है। इसलिए पूने का हित है, पूने में रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तान के हित का विचार करने से उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हित का विचार आ जाता है।' यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर की जानेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित है, लेकिन उसमें मैं जिस भगवान् के दर्शन करता हूं, वह सर्वब्रह्मांडव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन—सबमें निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। '**जले स्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि**।' उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी शालग्राम में न देखेगा तो उसकी पूजा निरी पागलपन होगी। सेवा करने में भी खूबी है, रहस्य है। अपने गांव में रहकर भी मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हूं। दूसरों को न लूटते हुए जो सेवा की जाती है, वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकाराम ने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवों मे विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनों की सेवा का फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे, लेकिन उन तंदुलों में प्रचंड शक्ति थी। सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करने पर भी कुछ अभागों को बहुत थोड़ा फल मिलता है, लेकिन सुदामा छोटे-से कर्म से बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि, निष्पाप और पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे, तो उसका फल महान् होता है। मूल्य बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक

सिद्धांत है। मां का पत्र दो शब्दों का क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेम की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागज पर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूल में शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है वह प्रेम में ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्मा के यहां 'कितनी सेवा' यह पूछ नहीं है, 'कैसी सेवा' यह पूछ है। तिलक अत्यन्त बुद्धिमान्, विद्वान्, नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहुअंगी थी, तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूं। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूं, उसपर सरकारी मुहर भर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, व्यापक दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सबकोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिये, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिये, उसमें व्यापकता भर दीजिये। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकीर्ण दृष्टि से काम करते दीख पड़ते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनंद है। हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिये। चाहे वह एक गांव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है। परंतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइये। फिर देखिये, आपके कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है, कैसी बिजली का संचार होता है। तिलक में यही व्यापकता थी।

मैं भारतीय हूं, यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल में आन्दोलन शुरू हुआ, उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया, स्वदेशी का डंका बजवाया। 'जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दुःख है, वह महाराष्ट्र का भी दुःख है।' ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसीलिए पूना के निवासी होकर भी वह हिंदुस्तान के प्राण बन गए, सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था, वह था जनता की विशेषता। जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी जनता के ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे। जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, त्रुटियां, सबकुछ वह अपनी ही समझते थे। वह जनता से एकरूप होगए थे, इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है।

यह जो जनता का गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान्, पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजों की यह देन है। यह गुण मानों हमने अपनी मां के दूध के साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजो ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांत का, किस जाति का है, यह देखने के बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजों ने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया, तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए; पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजों ने। उन्हीकी कृपा से यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षि ने हमें यह सिखावन दी है कि **'दुर्लभं भारते जन्म'**— **'दुर्लभं वंगेषु जन्म,' 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म'**, ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषि ने तो यही कहा कि **'दुर्लभं भारते जन्म'** काशी में गंगा-तट पर रहनेवाले को किस बात की तड़प होती है ? वह इसके लिए तड़पता है कि काशी की गंगा की बहगी या कांवर भरकर कब रामेश्वर को चढ़ाऊं ? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तव में तो काशी और रामेश्वर में पंद्रह सौ मील का फासला है, परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियों ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पद्रह सौ मील का है। रामेश्वर में रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर चढ़ाऊं। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरी के जल में नहानेवाला भी 'जय गंगे, हर गंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशी में ही नहीं, यहांपर भी है। जिस बर्तन में हम नहाने के लिए पानी लेते हैं, उसे भी गंगाजल(गंगालय)नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह ! यह भारतीय भावना है !

यह भावना आध्यात्मिक नहीं, वरन् राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य **'दुर्लभं भारते जन्म'** नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा, जैसाकि तुकाराम ने कहा, **'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास ॥'** **(स्वदेशो भुवनत्रयम्)** उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों, सारे किलों को तोडकर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषों ने, जो आध्यात्मिक रंग में रँगे हुए थे, अपनी आत्मा को स्वतंत्र संचार करने दिया। **अणोरणीयान् महतो महीयान्**—इस भावना से प्रेरित होकर, सारे भेद-भावों को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सकें, वे धन्य हैं। लोग भी समझ गए कि ये सारे विश्व के हैं, इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु **'दुर्लभ भारते जन्म'** की जो कल्पना ऋषियों ने की, वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने रामायण के प्रारम्भिक श्लोकों में राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए, राम कैसे थे, इसका वे यों वर्णन करते

हैं—**समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव**।—स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरों के निकटवाले समुद्र-जैसा।' देखिये, कैसी विशाल उपमा है ! एक सांस में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराये। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकि के रोम-रोम में राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृत में है तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्र में प्रिय है, उतनी ही मद्रास की तरफ केरल में भी है। श्लोक के एक ही चरण में उत्तर भारत और दक्षिण का समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है !

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरंत बोल उठेंगे कि हम पैंतीस करोड़ बहन-भाई हैं। अंग्रेज से पूछो तो वह चार करोड़ बतलायगा। फ्रांसीसी सात करोड़ बतलायगा। जर्मन छः करोड़ बतलायगा। बेल्जियम साठ लाख बतलायगा। यूनानी आध करोड़ बतलायगा। और हम पैं--तीं--स करोड़ ! ऐसा फर्क क्यों हुआ ? हमने इन तेंतीस करोड़ को एक माना। उन्होंने नहीं माना। सच पूछो तो जर्मनी की भाषा और फ्रांसीसियों की भाषा अधिक बिसदृश नहीं है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोप की भाषाएं लगभग एक-सी हैं, उनका धर्म भी समान है, भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार भी होता है; लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोप के अलग-अलग टुकड़े कर डाले ! हिंदुस्तान के प्रान्तों ने अपने को अलग-अलग नहीं माना। यूरोप के लोगों ने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूस को छोड़ बाकी के सारे यूरोप के बराबर एक खंड (महाद्वीप) ही है ! लेकिन हमने भारत को एक खंड, यानी अनेक देशों का समुदाय न मानकर भारतवर्ष के नाम से सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उन अभागे यूरोपवासियों ने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोप को एक खंड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक-एक टुकड़े को अपना मान लिया और एक-दूसरे से घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमर को ही ले लीजिये। लाखों लोग मरे। वे एक-दूसरे से लड़े, मगर

आपस में नहीं लड़े। यह कुसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारत को एक राष्ट्र मान लिया और हम आपस में लड़े।

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि 'तुम आपस में लड़ते रहे, अंतस्थ कलह करते रहे।' आपस में लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं, लेकिन यह दोष स्वीकर करते हुए भी मुझे इस आरोप पर अभिमान है। हम लड़े, लेकिन आपस में—इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं; यह बात इन इतिहासकारों को भी मजूर है। उनके आक्षेप में ही यह स्वीकृति आगई है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरे से लड़े, लेकिन अपने ही देश में आपस में नही लड़े; लेकिन इसमें कौन-सी बडाई है! एक छोटे-से मानव-समुदाय को अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अदर एकता है, आपस में फूट नहीं है, कौन-सी बहादुरी है? मान लीजिये कि मैंने अपने राष्ट्र की 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली, तो आपस मे कभी युद्ध ही न होगा। हां, मैं ही अपने मुह पर चट से एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मै अपने भाई से, मां से, किसीसे भी लड़ूं, तो भी यह आपस की लड़ाई नही होगी; क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना राष्ट्र मान लिया है। सारांश, हम आपस में लड़े, यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है; क्योंकि इस अभियोग मे ही अभियोग लगानेवाले ने यह मान लिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोप के अभागों ने इस कल्पना का विनाश किया। हमें उसकी शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रग में पैठ गई है। हम पुराने जमाने में आपस में लड़े, तो भी यह एकराष्ट्रीयता की भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्र ने पंजाब पर, गुजरात और बंगाल पर चढ़ाइयां कीं, फिर भी यह एकराष्ट्रीयता की, आत्मीयता की भावना नष्ट नहीं हुई।

जनता के इस गुण की बदौलत तिलक सब प्रांतों में प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं, सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही; परंतु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं, लेकिन उनकी

तो भी हम एक ही भारतमाता की संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकों को सेवा के लिए तैयार होना चाहिए। तिलक ने ऐसी ही सेवा की; आशा है, आप भी करेंगे।

: ३८ :

निर्भयता के प्रकार

निर्भयता तीन प्रकार की होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेकी निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरों से परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेने से आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपों से जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपों का भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़ने की कला जिसे सिद्ध होगई, सांप काटने पर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम होगए, सांप से बचने की युक्ति जिसे विदित होगई, वह सांपों की तरफ से काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सांपों तक ही सीमित रहेगी। हरएक को शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपों में रहना पड़ता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोग की चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है, वह मनुष्य को अस्वाभाविक आचरण से बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाती है। परंतु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनों के सतत अनुष्ठान के बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायता की जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्य को अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरे का सामना करना ही पड़े तो विवेक से बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधक को चाहिए

कि वह इस विवेकी निर्भयता की आदत डालने का प्रयत्न करे। वह हरएक की पहुंच में है।

मान लीजिये कि मेरा शेर से सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है, संभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी ही न हो, अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती, परंतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शांत रखने का प्रयत्न करूं, तो बचने का कोई रास्ता सूझने की संभावना है। या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूं तो अंतिम समय में हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरह से लाभदायी है। और इसीलिए यह सबके प्रयत्नों का विषय होने योग्य है।

अक्तूबर, १९४०

: ३९ :

आत्मशक्ति का अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजी का जन्म-दिन है। ईश्वर की कृपा से हमारे इस हिंदुस्तान में गांधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहां समय-समय पर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइये, हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमारे देश में सत्पुरुषों की ऐसी ही अखंड परंपरा चलती रहे।

मैं आज गांधीजी के विषय में कुछ न कहूंगा। अपने नाम से कोई उत्सव हो, यह उन्हें पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताह को खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपने से संबंध रखनेवाले उत्सव को कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परंतु गांधीजी इस उत्सव को प्रोत्साहन दे सकते हैं; कारण, यह उत्सव एक सिद्धांत के प्रसार के लिए, एक विचार के विस्तार के लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुष के एक कथन का जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्ति का जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता, तबतक उसके विषय में मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्ति का स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वर की लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक संदेश है। चिट्ठी का मज़मून देखना चाहिए। उसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन देखने से मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा, उसमें लड़कों ने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमों में लडके हमेशा उत्साह और आनद से शरीक होते हैं। परंतु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साह से सूत काता, यह कार्यक्रम का बहुत सुन्दर अंग है। साल-भर में कई त्योहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिन के लिए कोई-न-को कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परंतु उसी दिन के लिए कार्यक्रम बना लेने से हम उम उत्सव से पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरों पर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमें सालभर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई मंडली को मैंने यह सुझाया कि वे लोग आज से अगले साल के इसी दिन तक रोज आध घंटा नियमित रूप से कातने का संकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चय को पूरा करने में ईश्वर आपकी हर तरह से सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इन्तजार में ही रहता है कि कौन कब शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करने का सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूप से सूत कातिये। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगों के लिए नहीं रखना है, अपने दिल को टटोलने के लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यों न हो, मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अंदर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्ति का अनुभव हमें नहीं होता, क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करने की आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिये

ग्रौर उन्हें कार्यान्वित कीजिये, तब ग्रात्मशक्ति का ग्रनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गांव में जो काम हुग्रा है, उनके विवरण से यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काम में शुरू से दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नहीं है; इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते। हमने ग्रपना फर्ज ग्रदा कर दिया, इतना काफी है, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा; इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गांवभर में कैसे फैलेगी। इसमें ग्रसली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब ग्राग लग जाती है, बाढ ग्राती है या कोई छूत की बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गांव का विचार करते हैं। लेकिन यह तो ग्रपवाद हुग्रा; हमारे नित्य के व्यवहार में यह बात नही पाई जाती। जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है, तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नही पड़ता। जोर से चुटकी काटिये तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा ग्रात्म-ज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुग्रों का ग्रात्मज्ञान उनकी देह तक सीमित रहता है, वे ग्रपनी संतान को भी नहीं पहचानते। ग्रलबत्ता मादा को कुछ दिनों तक यह ज्ञान होता है, क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है; लेकिन यह पहचान भी तभीतक होती है जबतक कि वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद ग्रक्सर वह भी भूल जाती है। नर को तो उतनी भी पहचान नही होती। कुछ जानवरों में तो बाप ग्रपने बच्चों को खा जाता है। मनुष्य ग्रपने बाल-बच्चों को पहचानता है, इसलिए वह पशु से श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके ग्राकार से नहीं होता, उसकी ग्रात्मरक्षा की शक्ति या युक्ति से भी इसका पता नहीं चलता—उसका ग्रात्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बड़प्पन का हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियों का ग्रात्मज्ञान

उनके शरीर तक ही रहता है। जंगली मानी गई जाति के मनुष्य में भी वह कम-से-कम उसके परिवार तक व्यापक होता है; जितनी कमाई होती है, वह सारे घर की मानी जाती है। कुछ कुटुम्बों में तो यह कौटुम्बिक प्रेम भी नहीं होता—भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटों में झगड़े-टटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तान में फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुम्ब से बाहर वह बहुत कम मात्रा में है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समय के लिए सारा गांव एक हो जाता है। आम तौर पर कुटुम्ब से बाहर देखने की वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तान का आत्म-ज्ञान मौत की तरफ बढ रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांवों को एक इकाई मानकर सारे गांवों की चिंता कीजिये। यह गोपाल कृष्ण का मंदिर कौन-सा संदेश सुनाता है? इस मंदिर का मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालकों को जाने की इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनों के लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मंदिर खोलने का पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्ण की छत्रच्छाया में यह सारा गांव एक है', ऐसी भावना का विकास कीजिये।

गांवों की प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजें गांव में ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीजें बाहर से लाने लगेंगे तो बाहर के लोगों पर जुल्म होगा। जापान की मिलों और कारखानों में मजदूरों को बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरी में उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते है? हिंदुस्तान के बाजार अपने हाथ में रखने के लिए। मगर उनकी भाषा में 'हमारी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए।' यह वहां के मालदार पूंजीपति कहते हैं। वहां के गरीबों का इसमें कोई फायदा नहीं। वहां के मालदार आदमियों का भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नहीं है। हमारे उनका माल खरीदने से उन्हें जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसे से वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीन को हरा रहे हैं। इंग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रों का भी यही कार्यक्रम है। बाहर का माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनों का लोभ बढ़ाते

हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनाने के लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देने के लिए ही हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुट की ऊंचाई से बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि 'हमने लंदन को बेचिराग कर दिया।' अंग्रेज कहते हैं, 'हमने बर्लिन को भून डाला।' और हम लोग समाचारपत्रों में ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं, मंदिर, विद्यालय, और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवालों और न लड़नेवालों में कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालों को हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते हैं।

इस प्रकार हम दुर्जनों को उनके दुष्ट कार्य में सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरत की चीजें खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है, उनमें परस्पर-दान है। हम जो खरीदार हैं और ये जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। हम परस्पर-सहयोगी हैं। एक-दूसरे के पाप-पुण्य में हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इंग्लैंड को सोना बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंड की मदद करता है और अंग्रेज इस सहायता के लिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार-व्यवहार में भी पाप-पुण्य का बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें ब्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापार में लगाता है। बैंक में पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्य का हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पाप के लिए होता है, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गांव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजें बनाने का काम भी दूसरों को सौंपने का मतलब यह है कि हम खुद परावलंबन और आलस्य का पाप करते हैं और दूसरों को भी पाप में डालने में सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जनसंख्या पचासी करोड़, यानी संसार की जनसंख्या के आधे से कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं, लेकिन सिवा नाज के इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट्

लोक-संख्यावाले देश गैर-मुल्कों के माल के खरीदार हैं। चीन में तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तान में वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलम्बी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरत की चीजें खरीदते हैं; हमसे मिले हुए पैसे का उपयोग जो लोग पाप में करते होंगे, वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए? बौद्ध-धर्मावलम्बी स्वयं जानवरों को मारना हिंसा समझते हैं, लेकिन कसाई के मारे हुए जानवर का मांस खाने में वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकार का विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रम में नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी बनना चाहिए, तब वे हरएक गांव को सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनों से लोगों पर जुल्म करने की शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपाय से दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग दोनों पुण्य के रास्ते पर आयेंगे।

हम अपने पैरों पर खड़े रहने में किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते है। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिन्दुस्तान की मिलों का कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे? उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होने के कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं; लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठने के कारण, उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहर का माल खरीदकर हमने दुर्जनों का बल बढ़ाया है। दुर्जन संघटित होकर आज दुनिया पर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरह से जिम्मेदार हैं।

वास्तव में ईश्वर ने दुर्जनों की कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्य-संग्रह की धुन सवार हो जाती है, तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलम्बी होगए, हमारे गांव अपने उद्योग के बल अपने पैरों पर खड़े हो सके, तो सज्जन को दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्ति की जड़ें ही उखड़ जायंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगों पर जुल्म करने की शक्ति निन्यानवे फीसदी गायब हो जायगी। 'लेकिन जुल्म करने की जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्या

इलाज है ?' निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जाने के बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझने के वक्त ज्यादा भभकता है, उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रह के शस्त्र का आविष्कार हुआ है। दुर्जनों से हमें द्वेष नहीं करना है, पर दुर्जनता का प्रतिकार अपनी पूरी ताकत से करना है। आजतक दुर्जनों की सत्ता जो संसार में चलती रही, इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनों के साथ व्यवहार करने के दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्द से मेरा मतलब है, 'सज्जन कहे जानेवाले लोग'। या वे 'झगड़े का मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनों से दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जन से उसीका शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूं, तो उसमें और मुझमें जो भेद है, उसे बताने का इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं; और जब मैं उसका शस्त्र बरतता हूं तो अपने शस्त्र के प्रयोग में वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मत में तो पराजय लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको मात करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे, वे इस 'दुष्ट चक्र' से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनों पगडंडियों को छोडकर हमें सत्याग्रह से यानी स्वयं कष्ट सहकर, अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवाले के प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभंग शस्त्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्र का वर्णन करते हुए ज्ञानदेव ने कहा है---'अगर मित्रता से ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यों बांधे ?' गीता कहती है, 'आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीर को मारेगा; हमारी आत्मा को, हमारे विचार को वह नहीं मार सकता।' यह गीता की सिखावन ध्यान में रखते हुए सज्जनों को निर्भयता और निर्वैर-बुद्धि से प्रतिकार के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनों की निन्यानवे प्रतिशत शक्ति नष्ट करने का काम खादी और ग्रामोद्योग का है। निन्यानवे प्रतिशत जनता के लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक

प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकार का है। यदि पहला सुचारु रूप से हो जाय तो दूसरे की जरूरत ही न पड़नी चाहिए; और अगर जरूरत पड़ ही तो उसके लिए जनसंख्या के एक प्रतिशत की भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़-से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषो द्वारा यह काम हो सकता है। मै समझता हूं कि इन बातों मे गांधी-जयन्ती का सारा सार आ जाता है।

२-१०-४०

: ४० :

सेवा का आचार-धर्म

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

मैंने आज अपने भाषण का आरम्भ जिस मंत्र से किया है, वह मंत्र हमारे देश के लोग पाठशाला मे अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे। मंत्र गुरु और शिष्य के मिलकर कहने के लिए है। 'परमात्मा हम दोनों का एक साथ रक्षण करे! एक साथ पालन करे, हम दोनों जो कुछ सीखे वह, हम दोनों की शिक्षा, तेजस्वी हो! हम दोनो में द्वेष न रहे और सर्वत्र शांति रहे!' यह इस मंत्र का संक्षिप्त अर्थ है। आश्रम में भोजन के प्रारम्भ में यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन आरम्भ करते समय इसे पढ़ने की प्रथा है। 'इस मंत्र का भोजन से क्या सम्बन्ध है? इसके बदले कोई दूसरा भोजन के समय पढ़ने-योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता?' यह सवाल एक बार बापू से किया गया था। उन्होने वह मेरे पास भेज दिया। मैंने एक पत्र मे उसका विस्तार से उत्तर दिया है। वही मैं थोड़े मे यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्र मे समाज दो भागो म बांटा गया है। और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनों का एक साथ रक्षण करे। भोजन के समय इस मंत्र का उच्चार अवश्य करना चाहिए; क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरने के

लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए है। इतना ही नहीं, इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान् एक साथ कराये। इसमें केवल पालन की प्रार्थना नहीं है, 'एक साथ पालन' की प्रार्थना है। पाठशाला में जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवार में पुरानी और नई पीढ़ी, समाज में स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब-अमीर का भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस हिंदुस्तान में तो असंख्य भेद है। यहां प्रांत-भेद है। यहां का स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपंग रहता है, इसलिए यहां स्त्री-पुरुषों में भी बहुत भेद बढ़ा है। हिंदू और मुसलमान का भेद तो प्रसिद्ध ही है। परंतु हिंदू-हिंदू में भी हरिजनों और दूसरों में भी भेद है। हिंदुस्तान की तरह भेद संसार में भी है। इसलिए इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि 'हमें एक साथ तार, एक साथ मार!' मारने की प्रार्थना प्रायः कोई नहीं करता, इसलिए यहां एक साथ तारने की प्रार्थना है। लेकिन 'यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार!' ऐसी प्रार्थना है। सारांश, 'हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देनी है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है, वह सब एक साथ कर!' ऐसी प्रार्थना इस मंत्र में है।

देहात के लोग यानी किसान और शहरी, गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा, उतना ही देश का कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरह से मेटा जा सकता है। ऊपरवालों के नीचे उतरने से और नीचेवालों के ऊपर चढ़ने से। परंतु दोनों ओर से यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं, लेकिन किसान-मजदूरों की तुलना में तो चोटी पर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोस में ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर पड़ती रहे और मैं उसकी परवाह न करूं? उसके आक्रमण से अपनी थाली की रक्षा करने के लिए एक डंडा लेकर बैठूं? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें? एक सज्जन

आकर मुझसे कहने लगे 'हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं, परंतु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करने का निश्चय किया है।' मैंने पूछा 'सो क्यों?' उन्होंने जवाब दिया, 'मैं नारंगियां खाता हूं, वह नहीं खाते; वह मजदूर हैं, इसलिए वह नारंगियां खरीद नहीं सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।' मैंने पूछा—'क्या अलग घर में रहने से उनके पेट में नारंगियां चली जायंगी? आप दोनों में जो व्यवहार आज हो रहा है, वही ठीक है। जबतक दोनों एक साथ खाते हैं, तबतक दोनों के निकट आने की संभावना है। एकाध बार आप उनसे नारंगियां लेने का आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनों के बीच सुरक्षितता की दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवार को सुरक्षितता का साधन मानना कैसा भयंकर है! हिंदुस्तान में हम सब कहते हैं, हमारे संतों ने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्व-साक्षी है, सर्वत्र है। फिर दीवार की ओट में छिपने से क्या फायदा! इससे दोनों का अंतर थोड़े ही घटेगा।'

यही हाल हम खादीधारियों का भी है। जनता के अंदर अभी खादी का प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी हैं, वे सब सेवक ही हैं। यह कहा जाता है कि हमें और आपको गांवों में जाना चाहिए; लेकिन देहात में जाने पर भी, वहां के लोगों को जहां सूखी रोटी नहीं मिलती, वहां मैं पूरी खाता हूं। मेरा घी खाना उस भूखे को नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घी की मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे, तो भी संतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो, मगर हम सेवकों को बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूं। मुझे यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्हीं लोगों-जैसा दुबला-पतला हूं, यह संतोष अब जाता रहा।

इस टंगी हुई तख्ती पर लिखा है कि आवश्यकताएं बढ़ाते रहना सभ्यता का लक्षण नहीं है, बल्कि आवश्यकताओं का संस्करण सभ्यता का लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियों की आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए। उन्हें

सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवन का मान बढाना चाहिए। मोटे हिसाब से तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियों की आवश्यकताएं बढानी चाहिए।

यदि हम गांवों में जाकर बैठे हैं तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियों का रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम ज़रा-ज़रा-सी बातें भी तो नहीं करते। महीना-डेढ़ महीना हुआ, मेरे पैर में चोट लग गई। किसीने कहा, इसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थान पर आ भी पहुंचा। किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर मिट्टी के ही वर्ग के तो हैं। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नहीं हुआ है, लेकिन अब मजे में चल सकता हूं। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्य के सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे, लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षा से लाचार हैं। डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक होगया, तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरतें किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासी का धर्म नहीं बतला रहा हूं खासे सद्गृहस्थ का धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवावाले देशों के डाक्टर कहते हैं कि बच्चों की हड्डियां बढ़ाने के लिए उन्हें कॉड-लिवर आयल दो। जहां सूर्य नहीं है, ऐसे देशों में दूसरा उपाय ही नहीं है। कॉड-लिवर के बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होंगे। यहां सूर्य-दर्शन की कमी नहीं। यहां यह महा कॉड-लिवर आयल भरपूर है, लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है! हमें लंगोटी लगाने में शर्म आती है। छोटे बच्चों पर भी हम कपड़े की बाइंडिंग (जि द) चढाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यता का लक्षण माना जाता है। वेदों में प्रार्थना की गई है—**मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः।** (हे ईश्वर, मुझे

सूर्य-दर्शन से दूर न रख !" वेद और विज्ञान दोनों कहते है कि खुले शरीर रहो। कपड़े की जिल्द में कल्याण नहीं। हम अपने आचार से ये विनाशक चीजें गांव में दाखिल न करें। हम देहात में जाने पर भी अपने बच्चों को आधी या पूरी लंबाई का पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चों का कल्याण तो है ही नहीं, उल्टे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चों में और उनमें भेद पैदा हो जाता है, या फिर दूसरे लोगों को भी अपने बच्चों को सजाने का शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूल की जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातों में जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचार का एक पहलू हुआ।

देहात की आमदनी बढाना इस विचार का दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढाई जाय ? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एक का विशेषण दूसरों को जोड़ देना साहित्य में एक अलकार माना गया है। 'कहे लड़की से, लगे बहू को' इस अर्थ की जो कहावत है, उसका भी अर्थ यही है। बहू को यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लडकी को सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं, 'देहाती लोग आलसी होगए।'—दरअसल आलसी तो हम हैं ! यह विशेषण पहले हमें लागू होता है, हम इसका उनपर आरोप करते हैं। बेकारी के कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही भिद गया हो, परंतु उनके मन में आलस्य नहीं है। उन्हे बेकारी का शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओं के मन में भी आलस्य है और शरीर में भी। आलस्य हिंदुस्तान का महारोग है। यह बीज है, बाहरी महारोग इसका फल हैं। हमें इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए और कुछ न हो तो गांव की परिक्रमा ही करे और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शकर का कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालय में भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टी में मिट्टी लेकर रास्ते पर जहां-जहां खुला हुआ मैला पडा हो, उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशल की जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापट ने एक कविता में कहा है कि 'झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।' ये कुशल औजार हैं। जिस औजार का उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजार के उपयोग के लिए कम-से-कम कुशलता की जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है, भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपड़ियों में ज़रा भी आना-कानी किये बिना मैला आजाता है। यंत्रशास्त्र के प्रयोग इस दृष्टि से होने चाहिए। खपरैल, खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नहीं देने पड़ते, इसलिए ये सीधे-सादे औजार धन्य हैं।

रामदास ने अपने 'दासबोध' में सुबह से शाम तक की दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सवेरे शौच-क्रिया के लिए बहुत दूर जाओ और वहां से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गये थे। लेकिन हवा खाने का काम से विरोध क्यों हो? कुदाली से खोदते हुए क्या नाक बन्द कर ली जाती है? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परंतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगह में बैठे रहते हैं, इसीलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ता को सदा खुली हवा में काम करने की आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहात में वह दतुअन ला सकता है। लीपने के लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक खेत के कपास के पेड़ गिनकर आ सकता है। यानी फसल का ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नही काटने चाहिए। देहात में काम करनेवाले ग्राम-सेवकों को सुबह से लेकर शाम तक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

लोगों की शक्ति कैसे बढ़ेगी, अब कुछ इसके विषय में कहूंगा। देहात में बेकारी और आलस्य बहुत है। देहात के लोग मेरे पास आते और कहते हैं, 'महाराज, हम लोगों का बुरा हाल है, घर में खानेवाले चार मुंह हैं।'

न जाने मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं। मेरे पास कौन-सा राज धरा है? मैं उनसे पूछता हूं, 'अरे भाई, घर में अगर खानेवाले मुंह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों? बगैर खानेवाले मुंह तो मुर्दों के होते हैं। उन्हें तो तुरंत बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घर में चार खानेवाले मुंह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हें भार क्यों हो रहे हैं? भगवान् ने आदमी को अगर एक मुंह दिया है तो उसके साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मुंह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल था। तुम्हारे यहां चार मुंह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं! फिर भी शिकायक क्यों?' लेकिन हम उन हाथों का उपयोग करें, तब न! हमें तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की आदत होगई है, हाथ जोड़ने की आदत होगई है। जब हाथ चलना बंद हो जाता है, तो मुंह चलना शुरू हो जाता है। फिर खानेवाले मुंह आदमी को ही खाने लगते हैं।

हमें अपने दोनों हाथों से एक-सा काम करना चाहिए। पौनार में कुछ लड़के कातने आते हैं। मैंने उनसे कहा, 'बायें हाथ से कातना शुरू करो!' उन्होंने यहीसे कहना शुरू किया, 'हमारी मजदूरी कम हो जायगी, बायां हाथ दाहिने की बराबरी नहीं कर सकेगा।' मैंने कहा, 'यह क्यों? दाहिने हाथ में अगर पांच उंगलियां हैं, तो बायें हाथ में भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगी?' निदान, मैंने उनमें से एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि बायें हाथ से कात! उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उसे पूरी कर देने का जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोज में वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बायें हाथ से पहले पखवाड़े में ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाख में बायां हाथ दाहिने की बराबरी पर आगया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंखें खुल गईं। यह कितना बड़ा लाभ हुआ! मैंने लड़कों से पूछा—'क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं?' वे कहने लगे, 'हां, क्यों नहीं?' दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करने में धीरे-धीरे थकने लगता है, अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिल्कुल नहीं आती। अठाईस-के-अठाईसों

लड़के बायें हाथ का प्रयोग करने के लिए तैयार होगए।

शुरू-शुरू में हाथ में थोड़ा दर्द होने लगता है, लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरू में जरा कड़वा ही लगता है। पुराणों का वह एकदम मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसा गीता में कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है! गीता में बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारम्भ में कड़वा ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कों ने तीन महीने तक सिर्फ बायें हाथ से कातने का प्रयोग करने का निश्चय किया। तीन महीने मानों दाहिने हाथ को बिल्कुल भूल ही गए। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहात में निंदा का दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहर के लोग इससे बरी हैं, लेकिन यहां मैं देहात के विषय में ही कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिंदा रहती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है, उसका मुंह खराब होता है; और जिसकी निंदा की जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि देहातियों में निंदा करने की आदत होती है; लेकिन यह रोग इतने उग्र रूप में फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनों से मैं सत्य और अहिंसा के बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे संतों की बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मय का रहस्य अब मेरी समझ में आया। वे देहातियों से भली-भांति परिचित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ। संतों के लिए मेरे मन में छुटपन से ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञान के वर्णन मुझे बड़े मीठे लगते हैं; लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहने में क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीतिविषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। परस्त्री को माता के समान समझो, पराया माल न छुओ और निंदा न करो—इतने में उनकी नैतिक शिक्षा की पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञान के साथ-साथ उसी श्रेणी में वे इन चीजों को भी रखते थे। यह मेरी समझ नहीं आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदा का दुर्गुण उन्होंने लोगों की नस-नस में

पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिंदा पर बार-बार इतना ज़ोर दिया और उसे वड़ा भारी सद्‌गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओं को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदा में अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्य में अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। संसार को चौपट कर दिया है इन साहित्यवालों ने—वस्तुस्थिति को तिगुना, दस गुना, बीस गुना बढ़ाकर बताना, उनके मत से अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही बताना अपनी नाक कटाने के समान है? कथाकार और प्रवचनकार की अत्युक्ति का कोई ठिकाना ही नहीं। एक को सौगुना बताने का नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति की वस्तु-स्थिति की कल्पना कर सकते। लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एक का सौगुना नहीं करते बल्कि शून्य को सौगुना बढ़ाते हैं। सुनता हूं, सौ अनंत का गुणा करने से कोई एक अंक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जानें।

तीसरी बात जो मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं, वह है सचाई। हमारे कार्यकर्त्ताओं में स्थूल अर्थ में सचाई है, सूक्ष्म अर्थ में नहीं। अगर मैं किसीसे कहूं कि तुम्हारे यहां सात बजे आऊंगा तो वह पांच ही बजे से मुझे लेने के लिए मेरे यहां आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देश में जो कोई किसी खास वक्त आने का वादा करता है, वह उस वक्त आयगा ही, इसका कोई नियम नहीं; इसलिए वह पहले से ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरे के भरोसे काम नहीं बनता। इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गांववाले से आप कोई काम करने के लिए कहिये तो वह कहेगा, 'जी हां।' लेकिन उसके दिल में वह काम करना नहीं होता। हमें टालने के लिए 'जी हां' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिये। 'जी हां' से उसका मतलब है कि यहां से तशरीफ ले जाइये। उसके 'जी हां' में थोड़ा अहिंसा का भाव होता है, वह 'आगे बढ़िये' कहकर आपके दिल को चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता, इसलिए 'जी हां' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियों से कराना चाहें, वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए। जबसे मैं देहात में गया तबसे किसीसे किसी बात के विषय में वचन लेने से मुझे चिढ़-सी होगई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूंगा, तो मैं उससे यही कहूंगा, कि 'यह तुम्हें जंचती है न ? बस, तो इतना काफी है। वचन देने की जरूरत नहीं। तुमसे हो सके तो करो !' लोगों को उसकी उपयोगिता समझाकर संतोष मान लेना चाहिए। क्योंकि किसीसे कोई काम करने का वचन लेने के बाद उस काम को कराने की जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से झूठ बोलने में सहायता करते हैं। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषय में वचन दे दे और फिर उसे पूरा न करे तो इसमें हमारा भी अधःपतन होता है। इसलिए बापू को राजकोट में इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसलिए वचन, नियम या व्रत में किसीको बांधना नहीं चाहिए, और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा कराने की सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करने में हर तरह से मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अंदर होना चाहिए।

बाइबल में कहा है, 'ईश्वर की कसम न खाओ !' आपके दिल में 'हां' हो तो हां कहिये, और 'ना' हो तो ना कहिये। लेकिन हमारे यहां तो राम-दुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहने का अर्थ इतना ही है कि 'आपकी बात समझ में आगई, अब देखेंगे, विचार करेंगे।' किसी मजबूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइये तो उसे पता भी नहीं चलता। दस-पांच मारिये, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटें लगाइये तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, यह व्यायाम नहीं कर रहा है, यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।' एक बार 'हां' कहने का कोई अर्थ नहीं। दो बार कहने पर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हां' कर दी है; और जब तीसरी बार 'हां' कहता है तब उसके ध्यान में आता है कि मैंने जान-

बूझकर 'हां' कही है। कुल का अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टि से झूठ हमारी नस-नस में भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओं को अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें, उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझट में न पड़ें।

अब कार्यकर्त्ताओं से कार्यकुशलता के बारे में दो-एक बातें कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ी के बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ी का तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज़ है। उसकी सेवा कीजिये, लेकिन उसके पीछे न पड़िये। उसके शरीर के समान उसका मन और उसके विचार भी एक सांचे में ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नवजवानों से कहनी चाहिए। तरुणों के विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इस-लिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढती है वैसे-वैसे विकारों का शमन होता जाता है। मोटे हिसाब से यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात चालू पीढ़ी को अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं—भावी पीढी को हाथ में लेना चाहिए। युवक ही नये-नये कामों में हाथ डालते हैं, बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढते या घटते हैं, यह मैं नहीं जानता; लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि वृद्धों की अपेक्षा तरुणों में आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करने पर भी कोई फल नहीं होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तान के लोग हजार साल के बूढ़े हैं। जब किसी गांव में कई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गए। नया कार्यकर्त्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषय में उन्हें संदेह बना रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह

प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्यु तक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियों से 'समरस' होने का ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है। मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्त्व है उतना परिचय का नहीं। समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति हो जायगी? केवल समाज से समरस होने से काम होगा, यह मानने में जड़ता है। रामदास कहते है, 'मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदाय को हौसला रखना चाहिए; लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकान्त-सेवन करना चाहिए।' वे कहते हैं कि, 'कोई जल्दी नहीं है। शांति से अखंड एकांत-सेवन करो!' एकांत-सेवन से आत्म-परीक्षण का मौका मिलता है। लोगों से किस हद तक संपर्क बढ़ाया जाय, यह ध्यान में आता है। अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उसपर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्त्ता फिर देहातियों के रंग का ही हो जाता है। उसके चित्त में व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की शरण लूं। एकाध बड़े आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं। फिर वे महादेवजी और ये नंदी, दोनों एक जगह रहने लगते हैं! वह कहता है, 'मैं बडा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है, इसमें कोई लाभ नहीं।' इसलिए समाज में सेवा के लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण मे बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षण के बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समय में हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, 'क्या करें, चिंतन के लिए समय ही नहीं मिलता। ज़रा बैटे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं।' जो आये, उससे बोलने में समय बिताना सेवा नहीं है। कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चिंतन के लिए अलग

समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

एक बात स्त्रियों के संबंध में। स्त्रियों के लिए कोई काम करने में हम अपनी हतक समझते हैं। पौनार का ही उदाहरण लीजिये। व्याकरण के अनुसार जिनकी गणना पुल्लिंग में हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं फींचता। बाप के कपड़े लड़की धोती है और भाई के कपड़े बहन को धोने पड़ते है। मां की साड़ी फींचने में भी हमें शर्म आती है तो पत्नी की साड़ी धोने की तो बात ही क्या! अगर विकट प्रसंग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पडोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साड़ी साफ करने का मौक़ा आ ही जाय तो फिर वह काम शाम को, कोई देख न पाये ऐसे इंतजाम में, चुपचाप, चोरी से कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिल्कुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रियां ही आपके कपड़े बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं। एक बार मैं खादी का एक स्वावलंबन-केंद्र देखने गया। दफ्तर में कोई सत्तर-पचत्तर स्वावलंबी खादीधारियों की तालिका टंगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। यहां जो सभा हुई उसमें मेरे कहने से खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं। मैंने पूछा, 'यहां इतने स्वावलंबी खादीधारी पुरुष हैं, तो क्या स्त्रियां न कातेंगी?' स्त्रियों ने जवाब दिया, 'हम ही तो कातती हैं।' तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषों से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे, शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गए सूत के जोर पर स्वावलंबी थे। इसलिए कहता हूं कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिये, आगे चलकर वे ही आपके कपड़े तैयार कर देंगी। कम-से-कम खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें स्वयं बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा। अगर वे वहां आयंगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानों तक पहुंचेंगी।

: ४१ :

चरखे का सहचारी भाव

पुराने जमाने की बात है। एक सत्य-वक्ता, विशुद्धमना साधु वन में तप करते थे। उनके शांत तप के प्रभाव से वहां के पशु-पक्षी आपसी वैर-भाव भूल गए थे, जिससे वन-का-वन एक आश्रम-जैसा बन गया था। जिस तप के बल से वन-केसरी का स्वभाव बदल जाय, उससे इंद्र का सिंहासन डोलने लगे तो इसमें क्या आश्चर्य है! इंद्र ने उस साधु का तप भंग करना तय किया। हाथ में तलवार ले योद्धा का वेष बना वह साधु के पास आये और विनती करने लगे—'क्या आप मेरी यह तलवार कृपा करके अपने पास धरोहर की भांति रख लेंगे?' न जाने साधु ने क्या सोचकर उनकी विनती मान ली। इंद्र चले गए। साधु ने धरोहर संभालकर रखने की जिम्मेदारी ली थी, वह दिन-रात तलवार अपने साथ रखने लगे। देव-पूजा के लिए पुष्प आदि लेने जाते तो भी तलवार साथ होती। आरंभ में उन्होंने विश्वास के नाते तलवार अपनाई थी, धीरे-धीरे तलवार पर उनका विश्वास जमता गया। तलवार नित्य साथ रखते-रखते तपस्या से श्रद्धा जाती रही। यह बात उनके ध्यान में भी न आई। साधु क्रूर हो गया, इंद्र का सिंहासन स्थिर और निर्भय होगया और वन के हरिण डर के मारे कांपने लगे।

रामचंद्रजी के दंडक वन में घूमते समय, उनके हाथों कहीं हिंसा न हो जाय, इस विचार से यह सुंदर कथा सीताजी ने उनसे कही थी। हर वस्तु के साथ उसका सहचारी भाव आता ही है। इस कथा का इतना ही भाव है। जैसे सूर्य के समीप उसकी किरणें, वैसे ही वस्तु के समीप उनका सहचारी भाव होता है।

हम कहते हैं—चरखे का सर्वत्र प्रचार होजाय, तो स्वराज्य मिला ही समझिये। इसका मतलब बहुतों की समझ में नहीं आता। कारण, चरखे के सहचारी भाव उनके ध्यान में नहीं आते। घर में एक चरखा आते ही अपने साथ कितनी भावनाएं लाता है, यह हम नहीं जानते। बिजली की भांति सारा

वातावरण पलभर में बदल जाता है। राजा के बाहर निकलने पर हम कहते हैं—'राजा की सवारी निकली है।' चरखा घर के भीतर आया तो चरखे की सवारी भीतर आती है। इस सवारी में कौन-कौन से सरदार शामिल होते हैं, इसपर विचार करें तो 'चरखे से स्वराज्य' का रहस्य समझ में आजाय।

थोड़े दिन हुए, एक धनिक सज्जन ने, जिन्होंने कांग्रेस के नियमानुसार हाल में ही चरखा कातना शुरू किया था, चरखे के विषय में अपना यह अनुभव बताया था : 'पहले मेरे मन में चाहे जैसे व्यर्थ के विचार आया करते थे। चरखा कातना शुरू करने पर यह बात अपने-आप बंद होगई। बीच में एक बार जी में आया कि बड़े लोग मोटर रखते हैं, मैं भी एक मोटर ले लूं। पर तुरंत ही यह विचार हुआ कि एक ओर चरखा और दूसरी ओर मोटर के पीछे मेरा पैसा विदेश जाय, यह ठीक नहीं। मोटर के बिना मेरा कोई काम अटका भी नहीं है। यह अनुभव एक-दो का नहीं, बहुतों का है। चरखे के सहचारी भावों में गरीबों के प्रति सहानुभूति, गरीबी की कद्र और उसमें ही रस मानना एक महत्त्वपूर्ण भाव है। गरीब और अमीर में एकता लाने की सामर्थ्य जितनी चरखे में है, उतनी और किसी चीज में नहीं।

गरीब और अमीर का झगड़ा सारी दुनिया को परेशान कर रहा है। इसे मिटाने की शक्ति अकेले चरखे में ही है। गरीब-अमीर एक हो जायं तो स्वराज्य मिलते कितनी देर !

आज अपने समाज के, अंधा मजदूर, लंगड़ा पंडित, ये दो भाग होगए हैं। सुशिक्षित में स्वराज्य की भावना है, पर कार्य करने की शक्ति नहीं; अशिक्षितों में कार्य करने की शक्ति है तो भावना नहीं। अंधे और लंगड़े की इस जोड़ी को जोड़ने की कला केवल चरखे में है। यों तो चरखा एक सीधी-सादी-सी चीज दिखाई देती है, और है भी वह ऐसी ही; पर इस सीधी-सी वस्तु के लिए भी बढ़ई, लुहार, चमार आदि के चरणों में बैठना पड़ता है। अपने छोटे भाई को मैंने एक बढ़ई के पास काम सीखने को रखा था। शुरू-शुरू में तो बढ़ई बड़े अदब से सिखाता बताता था; पर थोड़े दिन बाद ही उसे मालूम होगया कि मेरा शिष्य और बातों में चाहे विद्वान् हो पर इस काम में मूर्ख है।

फलत: एक दिन धमकाकर बोला, 'इतना बताया तो भी तू नहीं समझता ?' शुरू-शुरू में वह 'तुम' कहता था, लेकिन उम्र छोटी होते हुए भी जब उसके मुंह से 'तू' निकल पड़ा तो मुझे आनंद हुआ। जान पड़ा, स्वराज्य पास आ गया है। एक बार मैं चरखा कात रहा था, एक ढेढ़ बुनकर मुझसे मिलने आया—यह संयोग भी चरखे के आंदोलन के बिना नहीं आता—मैं कातते-कातते उसके साथ बातें करता जाता था। तकुए में कुछ दोष था, जिससे अच्छा कातते नहीं बनता था। उस ढेढ़ के ध्यान में तुरंत यह बात आगई थी और क्या दोष है, यह उसने मुझे बताया। मुझ जैसे 'विद्वान्' को सिखाने में उसको कितना आनंद आया होगा और हम एक-दूसरे के कितने पास आये होंगे ! सुशिक्षित और अशिक्षित एक हो जायं तो स्वराज्य क्यों न मिले !

आज हिंदू-मुसलमानों के झगड़ों का प्रश्न बड़ा विकट होगया है। मैं समझता हूं कि इसे हल करने की शक्ति भी केवल चरखे में ही है। प्रत्येक मंदिर और मसजिद में चरखे का प्रवेश होजाय तो सब झगड़े खत्म होजायं। अवश्य ही, आज की परिस्थिति में ऐसा होने के लिए भी दूसरी कितनी ही वस्तुओं की सहायता दरकार होगी। लेकिन चरखा कातनेवाला कोई भी, हिंदू या मुसलमान, एक-दूसरे का सिर तोड़ने को कभी तैयार न होगा, यह बात पक्की है। जिस तरह तलवार को साथ रखते-रखते मनुष्य हिंसक बन जाता है उसी तरह वह चरखे के साथ से शांत बन जाता है। शांति या अहिंसा ही चरखे का सहचारी भाव है। समाज में शांति स्थापित हो और उससे हिंदू-मुस्लिम झगड़ों का अंत हो जाय तो स्वराज्य क्यों न मिले !

चरखे के सहचारी भावों के यथार्थ स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता, और किया भी जाय तो केवल पढ़कर वह समझा नहीं जा सकता। उसके लिए तो खुद चरखे से ही दोस्ती करनी होगी। दोस्ती पक्की होते ही चरखा खुद ही अपने सब रहस्य बता देता है। उसकी संगीत-मधुर वाणी एक बार कान में पड़ी कि सारी कुशंकाएं मिटी समझिये। इसलिए यह लेख पूरा करने के पचड़े में न पड़कर, उसका बाकी हिस्सा पाठक चरखे में से कात लें। उनसे इतनी प्रार्थना करके मैं यहीं विश्राम लेता हूं।

: ४२ :

सारे धर्म भगवान् के चरण हैं

पिछले दिनों बम्बई में इस्लाम के एक अध्येता श्री मुहम्मदअली का 'कुरान के अध्ययन' पर एक भाषण हुआ था। उसमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये थे, वैसे आजकल के असहिष्णु युग में बहुत कम सुनाई देते हैं।

उन्होंने कहा, 'कुरान के उपदेश के संबध में हिंदुओं या ईसाइयों के दिलों में होनेवाली विपरीत भावनाओं की जिम्मेदारी मुसलमानों की है। परधर्मों के विषय में जो वृत्ति कुरान की मानी जाती है, उसके लिए वस्तुत: कुरान जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे चंद मुसलमान है जो कुरान के उपदेश के खिलाफ आचरण कर रहे हैं। कुरान का उचित रीति से अध्ययन करने से विदित होगा कि कुरान की रू से जहां-जहां ईश्वर-शरणता है, वहां-वहां इस्लाम है। मैं खुद किसी समय नास्तिक और ऊपरी—अर्थात् हिंदू-विरोधी या ईसाई-विरोधी के अर्थ में—मुसलमान था; पर कुरान पढ़ने पर इस्लाम का असली अर्थ मेरी समझ में आगया और आज मैं एक सच्चे हिंदू या सच्चे ईसाई को असली मुसलमान समझ सकता हूं।"

यह दृष्टि शुद्ध है। सच्चे हिंदू में मुसलमान है और सच्चे मुसलमान में हिंदू है। हममें पहचानने-भर की शक्ति होनी चाहिए। विट्ठल का उपासक विट्ठल की उपासना कभी नही छोड़ेगा। वह जन्म-भर विट्ठल का ही उपासक रहेगा। लेकिन वह राम की उपासना का विरोध न करेगा। वह विट्ठल में भी राम देख सकता है। यही बात रामोपासक पर लागू है। उसे राम की मूर्ति में विट्ठल के दर्शन होते हैं?[1]

धर्माचरण एक उपासना है। उपासना मे विरोध की गुंजायश नहीं। जैसे 'राम' और 'विट्ठल' एक ही परमेश्वर की मूर्त्तियां हैं, और इसलिए उनमें

---

[1] तुलसीदास ने कहा है—मोर मुकुट कटि कांछनी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नबं धनुस-बान लेउ हाथ।"

विशिष्टता होते हुए भी उनका विरोध नहीं है, वैसे ही हिंदू-धर्म, मुस्लिम-धर्म इत्यादि एक ही सत्य-धर्म की मूर्त्तियां हैं, इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी विरोध नहीं है। जो ऐसा देखता है, वही वास्तव में देखता है।

रामकृष्ण परमहंस ने भिन्न-भिन्न धर्मों की साधना स्वयं करके सब धर्मों की एकरूपता प्रत्यक्ष करली। तुकाराम ने अपनी उपासना के सिवा दूसरे किसीकी उपासना न करते हुए भी सारी उपासनाओं की एक-वाक्यता जान ली। जो स्वधर्म का निष्ठा से आचरण करेगा, उसे स्वभावत: ही दूसरे धर्मों के लिए आदर रहेगा। जिसे पर-धर्म के लिए अनादर हो उसके बारे में समझ लीजिये कि वह स्व-धर्म का आचरण नहीं करता।

धर्म का रहस्य जानने के लिए न तो कुरान पढ़ने की जरूरत है, न पुराण पढ़ने की; सारे धर्म भगवान् के चरण हैं, इतनी एक बात जान लेना बस है।

●

'मंडल' द्वारा प्रकाशित
विनोबा-साहित्य

१. गीता-प्रवचन
२. शांति-यात्रा
३. स्थितप्रज्ञ-दर्शन
४. स्वराज्य-शास्त्र
५. विचार-पोथी
६. ईशावास्यवृत्ति
७. गांधीजी को श्रद्धांजलि
८. राजघाट की सन्निधि में
९. भूदान-यज्ञ
१०. सर्वोदय-विचार
११. सर्वोदय का घोषणा-पत्र
१२. ईशावास्योपनिषद्
१३. जमाने की मांग
१४. उपनिषदों का अध्ययन
१५. जीवन और शिक्षण
१६. विनोबा के विचार (१-२ भाग)

दो रुपये